Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष 14 अंक 1 जनवरी, 2000

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सहयोगी

गोविन्दचन्द्र पाण्डे, दयाकृष्ण

रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष 14 अंक 1

जनवरी, 2000

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सहयोगी

गोविन्दचन्द्र पाण्डे, दयाकृष्ण
रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

संपादन-सहयोगी

1. **गोविन्दचन्द्र पांडे,** 11, बलरामपुर हाऊस, इलाहाबाद - 211002
2. **दयाकृष्ण,** बी-189/ए, विश्वविद्यालय मार्ग, बापूनगर, जयपुर - 302015
3. **रमेशचन्द्र शाह,** निदेशक-निराला सृजन-पीठ, सी-165/1, प्रोफेसर कालोनी, भोपाल- 462002
4. **अशोक वाजपेयी,** सी 2/43, शाहजहां रोड, नई दिल्ली - 110011

संपादक

1. **यशदेव शल्य,** पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर - 302015
   दूरभाष 515693
2. **मुकुन्द लाठ,** ए37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर 302006
   दूरभाष 213737 / 211725

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत — रु. 30/-
संस्थाएं — रु. 50/-

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत — रु. 300/-
संस्थाएं — रु. 3000/-

यशदेव शल्य एवं मुकुंद लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी-51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015 के लिए विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर से लेज़र कंपोजिंग तथा कमल प्रिन्टर्स, जयपुर में मुद्रित।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विषय-सूची

हिन्दी

1. प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि अथवा प्रमाणसिद्धिः प्रमेयाद्धि — अम्बिकादत्त शर्मा 1–12
2. अपोह, अभाव और अनेकान्त — दयाकृष्ण 13–20
3. काव्य-तत्त्व-2 – यशदेव शल्य 21–26
4. उन्मीलन-गोष्ठी–1 27–40
   विषय — काव्य-तत्त्व
   मुकुन्द लाठ, सरला कल्ला, यशदेव शल्य
5. उन्मीलन-गोष्ठी–2 41–52
   विषय — धर्म और नीति
   सरला कल्ला, यशदेव शल्य, मुकुन्द लाठ

संस्कृत

1. सविकल्पक निर्विकल्पक विचारः — टी. श्रीनिवास शास्त्री 53–64
2. उपनिषद् दर्शनम् — सिद्धेश्वरप्रसादः 65–72
3. विध्यर्थः धर्माधर्म निर्णयश्च — डी. प्रह्लादाचारः 73–76

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आवश्यक सूचनाएँ

1. इस वर्ष से उन्मीलन का वार्षिक शुल्क व्यक्तिगत क्रेताओं के लिए रु. 40/- और संस्थाओं के लिए रु. 70/- किया जा रहा है। किन्तु पत्रिका के पिछले अंकों की प्रतियाँ क्रमशः 20/-रु. एवं 35/- वार्षिक की दर से उपलब्ध होंगी। 1987 से 1998 तक के सभी अंकों की प्रतियाँ, 1994-95 को छोड़कर, अभी उपलब्ध हैं। 27/-रु डाक-व्यय अतिरिक्त देय होगा। यह रियायत 1998 तक के अंकों के लिए ही होगी।
2. प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित तीन पुस्तकें, जिनका कुल मूल्य रु. 625/-रु. है, एकाधिकृत पुस्तक विक्रेताओं से वापिस ले ली गई हैं। अब ये प्रतिष्ठान से सीधे क्रय करने वालों को 40% कम मूल्य पर उपलब्ध हो सकेंगी। 25/-रु. डाक व्यय अतिरिक्त होगा। पुस्तकों के नाम निम्न प्रकार हैं:—
   1. मूल्यतत्त्व-मीमांसा : यशदेव शल्य, 200/-रु.
   2. चिद्विमर्श : यशदेव शल्य, 175/-
   3. प्रमुख भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन-धाराएँ : यशदेव शल्य तथा भगवती 250/-रु.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि अथवा प्रमेयाद्धि प्रमाणसिद्धिः

अम्बिकादत्त शर्मा

भारतीय दार्शनिक चिंतन का एक बहुत बड़ा भाग प्रमाणमीमांसीय चिन्तन से सम्बद्ध है। प्रमाणमीमांसा के अधिकांश प्रश्न प्रमाणों के स्वरूप एवं विनियोग से सम्बन्धित माने जाते हैं। कुछ एक ऐसे भी प्रश्न हैं जिनका सम्बन्ध प्रमाण-दर्शन से होता है। इन्हीं प्रश्नों की पृष्ठभूमि में इस तथ्य का उद्‌घाटन सम्भव हो पाता है कि कोई प्रमाण अपने स्वरूप एवं विनियोग में क्यों ऐसा ही है, अन्यथा क्यों नहीं है? भारतीय दर्शन के इतिहास में 'मानाधीना मेयसिद्धिः' और 'मेयाधीना मानसिद्धिः' को प्रमाण-दर्शन से सम्बन्धित ऐसे ही दो आधारभूत प्रश्नों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुतः ये दोनों प्रश्न अपनी प्रकृति में प्रस्थानमूलक हैं जो भारतीय दर्शन की दो भिन्न प्रकार की प्रमाणमीमांसीय संरचना को प्रस्तावित करते हैं। दोनों प्रकार कीं प्रमाणमीमांसीय संरचनायें अपने अपने तरीके से तत्त्वमीमांसा और प्रमाणमीमांसा के पारस्परिक सम्बन्ध को व्याख्यायित करते हुए प्रमाणों की प्रस्थिति एवं भूमिका को निर्धारित करती हैं। प्रस्तुत निबन्ध में हमारा उद्देश्य 'मानाधीना मेयसिद्धिः' और 'मेयाधीना मानसिद्धिः' की निष्पत्तियों को विश्लेषित करते हुए यह दिखाना होगा कि वास्तव में प्रमाणों का कार्य क्या है? क्या प्रमाणों की भूमिका अन्वेषणात्मक है अथवा प्रमाण केवल तत्त्व का बौद्धिक निदर्शन कराते हैं? इस मूलभूत प्रश्न की समीक्षा करते हुए हम यह भी दिखाने का प्रयास करेंगे कि प्रमाणों से प्रमेयसिद्धि अथवा प्रमेयापादन का दावा वैसा ही नहीं है जैसा कि समझा जाता है। प्रत्येक प्रमाणमीमांसीय चिन्तन की एक तात्त्विक पृष्ठभूमि होती है। हमारा प्रमाणमीमांसीय चिन्तन उसी पृष्ठभूमि से आरम्भ होता है और अन्ततः हमें उसी में लौटना होता है। अलग-अलग प्रकार की प्रमाणमीमांसीय संरचनाओं की विशिष्टता केवल इस बात में निहित होती है कि ये भिन्न भिन्न प्रकार की तात्त्विक दृष्टि या सत् विषयक प्रतिमानों को निदर्शित करते हुए उनके पारस्परिक भेदों को प्रतिपादित करने में सहायक हुआ करते हैं।

(I)

प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों में 'मानाधीनामेयसिद्धिः' को सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया गया है। सांख्यवादियों का 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि'[1] और वात्स्यायन का 'प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणम्'[2] इतिविषयक प्रस्थानमूलक अभिकथन के रूप में प्रसिद्ध हैं। गङ्गेश उपाध्याय तो इससे भी आगे बढ़ कर "प्रमाणाधीना सर्वेषां व्यवस्थितिः" का उद्‌घोष करते हैं।[3] सामान्यतया इनकी प्रमाणमीमांसा का समारम्भ इस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रश्न से होता है कि अमुक अमुक प्रमाण उपलब्ध हैं और इनसे हम क्या क्या सिद्ध कर सकते हैं जो वास्तव में अस्तित्वान है। उपलब्ध प्रमाणों की संख्या तो निश्चित की जा सकती है लेकिन प्रमेयों के सम्बन्ध में ऐसा किया जाना सम्भव नहीं। अतएव नैयायिकों को अन्ततः अपने आप को अनियतपदार्थवादी ही स्वीकार करना पड़ता है।[4] न्यायसूत्रकार महर्षि गौतम ने सम्भवतः इसीलिए प्रमाणविषयक सूत्रों को प्रथम स्थान पर रखा है। चूंकि इनकी दृष्टि में प्रमाण ही समस्त पदार्थों का व्यवस्थापक हुआ करता है, एतदर्थ प्रमाणमीमांसा को प्राथमिकता देते हुए नैयायिकों ने 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' को प्रमाण का सामान्य लक्षण स्वीकार किया है, क्योंकि प्रमाण-प्रवृत्ति के बिना प्रमेयविषयक प्रमा की उपलब्धि नहीं होती। अभिधेय और ज्ञेय के रूप में पदार्थों का सामान्य लक्षण भी प्रमाणमीमांसा की प्राथमिकता को ही सूचित करता है। यहां अवधेय है कि नैयायिकों ने प्रमाणों की गणना भी षोडश पदार्थों के अन्तर्गत की है। इस दृष्टि से प्रमाण भी प्रमेय कोटि में समाहित हो जाते हैं। ऐसा अभिमत अन्ततः प्रमाण-प्रमेय के मौलिक भेद को धूमिल करता हुआ प्रतीत होता है। नागार्जुन[5] ने अपने **विग्रहव्यावर्तनी** और विशेषकर **वैदल्यसूत्र** में प्रमाण-प्रमेय के लक्षणों का सम्प्लव दिखाते हुए अनेक आपत्तियों को उद्भावित किया है।

'मानाधीनामेयसिद्धिः' मानने वालों के लिए स्वयं प्रमाणसिद्धि का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि सब कुछ प्रमाणेन सिद्ध होना चाहिए तो प्रमाण ही किस प्रकार स्वयंसिद्ध हो सकते हैं? प्रमाणों की सिद्धि प्रमाणान्तर के द्वारा मानने पर अनवस्था की प्रसक्ति स्वाभाविक ही है। अनवस्था-ग्रस्त होने से जो स्वयं असिद्ध है वह दूसरे की सिद्धि कैसे कर सकता है? यदि प्रमाण की सिद्धि लक्षण के द्वारा मानी जाय[6] तो लक्षण का ज्ञान भी प्रमाणपूर्वक ही होगा और फिर वही अनवस्था पूर्ववत् आसन्न रहेगी। प्रमाण-निरपेक्ष लक्षण जैसी कोई चीज़ 'स्व-लक्षण' तो हो सकती है किन्तु वह यहां अभिप्रेत नहीं। पर लक्षण का प्रमाणमुखेन होना एक अनिवार्य स्थिति है। ऐसी आधारभूत आपत्तियों से बचने के लिए कुछ लोगों ने प्रमाणों को 'प्रदीपवत्'[7] और कुछ लोगों ने ज्ञान को 'स्वतःप्रकाश' मानते हुए ज्ञानमात्र को नित्य आत्मा का धर्म स्वीकार किया है। न्यायाभिमत में आत्मा और ज्ञान के मध्य समवाय सम्बन्ध होता है। यहां आत्मा की चेतनता और ज्ञान से उसका समवाय सम्बन्ध ज्ञानस्वरूपत्वेन नहीं बल्कि ज्ञानाधिकरणत्वेन विवक्षित है। मीमांसकों की दृष्टि में आत्मा और ज्ञान के मध्य भेदसहिष्णु-अभेद रूप तादात्म्य सम्बन्ध होता है। अद्वैतवेदान्त में आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप ही है। उपर्युक्त मतभेदों के बावजूद बौद्धेतर दार्शनिकों ने आत्मगत ज्ञान को प्रमाणफल तथा प्रमाणों को इस फल-निष्पत्ति का साधन मानकर प्रमाण और प्रमाणफल को साधन-साध्य रूप से व्यवस्थित किया है। यदि प्रमाण ज्ञानरूप नहीं तो हम कह सकते हैं कि जब जब हमें ज्ञान होता है तब तब किस माध्यम से वह उपलब्ध हुआ, इसका भी ज्ञान आनुषंगिक रूप से होना ही चाहिए। अतः ज्ञान की उपलब्धि मात्र से ही प्रमाणों का साधनत्व सिद्ध हो जाता है। इसके लिए प्रमाणान्तर की कल्पना व्यर्थ है।[8] प्रमाणान्तर की आवश्यकता तो तब होती जब प्रमाण को ही ज्ञानरूप माना जाता। प्रमाण और ज्ञान में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भेद मान लेने के कारण ही यह सम्भव हुआ कि एक ही प्रकार के प्रमेय की उपलब्धि विभिन्न प्रमाणों से एवं एक प्रमाण से भिन्न भिन्न प्रमेयों की उपलब्धि हो सकती है।[9] इस प्रकार 'मानाधीनामेयसिद्धिः' का सिद्धान्त मानने वालों के लिए प्रमाण और प्रमाणफल का पार्थक्य, प्रमाणफलरूपी ज्ञेयोपलब्धि के आश्रय के रूप में नित्य आत्मा की सत्ता तथा प्रमाणसम्प्लव की स्वीकृति आवश्यक हो जाती है।

पुनः, यदि प्रमाण साधन है तो उसके माध्यम से एक ओर प्रमा का साधन होता है तो दूसरी ओर प्रमा के विषय की सिद्धि भी होती है। ऐसी स्थिति में आत्मगत ज्ञान और विषय को जोड़ने के लिए सदैव प्रमाण की आवश्यकता होगी। आत्मा का सीधे विषय से सम्पर्क नहीं हो सकता। यदि इन्द्रियां इस सम्पर्क के लिए माध्यम का काम करती हैं तो इस सम्बन्ध में इन्द्रियप्राप्यकारित्व और इन्द्रिय-अप्राप्यकारित्व की जटिल समस्या उत्पन्न होती है। इन्द्रियों की प्राप्यकारिता का सिद्धान्त नैयायिकों एवं मीमांसकों के लिए बहुत ही उपादेय है। परंच इन्द्रियां अप्राप्यकारी हैं, इसके लिए भी बहुत प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।[10] इन्द्रियों को अप्राप्यकारी मान लेने पर 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्क्षम्' ही अनुपपन्न हो जाता है।[11] पुनः जब हमने एक बार किसी माध्यम को प्रमाण मान लिया तो उस माध्यम के दोषमुक्त प्रयोग से जो कुछ उपलब्ध होगा उसको भी प्रामाण्य ज्ञान स्वीकार करना पड़ेगा। इसीलिए शब्द को प्रमाण मान लेने पर श्रुतियों में उल्लिखित सब कुछ की प्रामाणिकता स्वीकार करनी पड़ती है। ध्यातव्य है कि श्रुतियों को लेकर भारतीय दर्शन में पर्याप्त मतभेद रहे हैं। यह मतभेद कतिपय अन्य प्रकार की कठिनाइयों एवं निष्पत्तियों को भी प्रस्तावित करता है।

'मानाधीनामेयसिद्धिः' के सिद्धान्त की मुख्य परिणति इस बात में होती है कि आत्मा में अवभासित होने वाली सभी वस्तुओं को पदार्थ की कोटि में सन्निविष्ट करना अनिवार्य हो जाता है। आत्मगत ज्ञान के विषय को कभी भी काल्पनिक संरचना से अभिहित नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में एक ओर विषय को ज्ञान से परे और पृथक् होना पड़ेगा तो दूसरी ओर ज्ञाता को ज्ञान में अपनी तरफ से कुछ जोड़ने का अधिकार नहीं होगा। यावत् उपलब्धियों को प्रमाण-प्रदत्त होना चाहिए। ज्ञान में ऐसा कुछ भी स्वीकार नहीं किया जा सकता जो प्रमाणों के अतिरिक्त किसी अन्य माध्यम से उद्‌भूत हुआ हो। अतः विषय की आत्मा से पृथक् स्थिति, ज्ञान में प्रतिभासित यावत् वस्तुओं का विषयगत प्रामाण्य और आत्मा के विकल्पादि द्वारा विषयकर्त्तृत्व का सम्पूर्ण निषेध इत्यादि बातें 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' की आवश्यक निष्पत्तियां हैं। बौद्धेतर दार्शनिकों की प्रमाणमीमांसा अपने सामान्यरूप में उपर्युक्त निष्पत्तियों का ही एक दार्शनिक चक्रव्यूह है।

(II)

अब यहां विचारणीय है कि 'मानाधीनामेयसिद्धिः' की उपर्युक्त निष्पत्तियों की पृष्ठभूमि में प्रमेयसिद्धि विषयक प्रमाणों की साधनात्मक भूमिका और प्रस्थिति का क्या तात्पर्य है? इसका मतलब यह कदापि नहीं हो सकता कि प्रमाण से सिद्ध होना प्रमेय का अस्तित्व में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आना है। इस अभिमत में जानना और अस्तित्व-लाभ करना परस्पर निरपेक्ष प्रक्रियायें हैं। ज्ञान को जनक और अस्तित्व के कारण को एक दूसरे के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। ज्ञात होने की प्रक्रिया में किसी वस्तु का पहले निर्माण और बाद में उसका ज्ञापन नहीं होता। वस्तुएँ सत्तासमवाय से स्वयं में ही सत्तावान् होती हैं। जब हम यह कहते हैं कि प्रमाणों से ही प्रमेय की सिद्धि होती है तो उपर्युक्त अभिप्रायों को अवश्य ही ध्यान में रखा जाना चाहिए।

'मानाधीनामेयसिद्धिः' के समर्थक दार्शनिक सत्ता की अज्ञात अवस्था को स्वीकार करते हैं। यह उनकी वस्तुवादी तत्त्वमीमांसा के लिए आवश्यक भी है। सत्ता की अज्ञात अवस्था, अर्थात् जब वह प्रमाणों की विषय न बनी हो, तब उसे एक अविभेदित स्थिति के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इस अवस्था में वह सत्तावान् भले ही हो लेकिन उसका अन्यों से भेद प्रतिपादित नहीं रहता है। दूसरी ओर हम चित्त की एक ऐसी स्थिति की कल्पना कर सकते हैं जो विषयाभिमुख होते हुए भी किसी वस्तु के ग्रहण में प्रवृत्त न हुआ हो। सत्ता की अविभेदित स्थिति से उसकी विषयरूपेणं उपलब्धि के लिए विषयाभिमुख चित्त का उससे सम्बन्धित होना आवश्यक है। नैयायिकों के अभिमत में अर्थसंवेदन के अतिरिक्त चैतन्य का और कोई अर्थ नहीं (नार्थसंवेदनाच्चैतन्यं नाम विद्यते।) यह सम्बन्ध अनिवार्य नहीं अपितु संयोगात्मक ही होता है। चित्त सम्बन्धित होकर सर्वप्रथम उसे विभेदित करता है। सत्ता की ज्ञानात्मक उपलब्धि चित्त द्वारा सम्पादित विभेदीकरण का ही परिणाम अथवा फल है। सांख्य, वेदान्त और न्यायदर्शन में इसी को ज्ञान की 'परिच्छेद्यता' कहा गया है। अतएव स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि प्रमेयसिद्धि में प्रमाणों की साधनात्मक भूमिका एवं प्रस्थिति का तात्पर्य उसे अन्यों से परिच्छेदित करना है। परिच्छेदन की शक्ति आत्मा या मन में निहित होती है। क्या प्रमाणों के द्वारा परिच्छेदित वस्तु का ग्रहण उस वस्तु का आपादन है? अवधेय है कि सत्ता को अन्यों से विभेदित करते हुए उसे वस्तु विशेष के रूप में जानना प्रमाण के द्वारा किया गया कोई अस्तित्वात्मक अवदान नहीं। ज्ञान अपनी प्रकृति में प्रापक और निरूपक होता है। वह अपनी तरफ से विषय में न तो कुछ जोड़ता है, न ही विषय की विशिष्टता को प्रभावित करता है। यह सम्भव है कि सत्ता अपनी सम्पूर्णता में हमारे ज्ञान की विषय न बनी हो। ऐसी स्थिति में हमारा ज्ञान अपूर्ण और अपर्याप्त होगा। यह अपर्याप्तता और अपूर्णता हमारे ज्ञान में होती है। सत्ता का इससे कुछ भी लेना देना नहीं। यह हमारे दोषपूर्ण प्रमाण-व्यापार को सूचित करता है, जिसे ज्ञान के साधनों की सम्यक् प्रयुक्ति से दूर किया जाना सम्भव है। अतएव सत्ता अपनी स्थिति में वैसी ही रहती है लेकिन तद्विषयक ज्ञान के दोषपूर्ण अथवा सही होने में भूयोदर्शन की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। अतएव प्रमेयोपलब्धि में प्रमाणों की परिच्छेदात्मक भूमिका को प्रमेयापादन या प्रमेयान्वेषण समझना एक असंगत संकल्पना है।

न्याय, मीमांसा आदि वस्तुवादी दर्शनों की प्रमुख मान्यता यह है कि ज्ञान सदैव सविषयक होता है। इसका भी यह मतलब नहीं है कि ज्ञान संपूर्ण रूप से विषय की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अवस्थिति पर निर्भर करता है। कम से कम एक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ में तो ज्ञान को विषय से स्वतन्त्र कहा जा सकता है। बहुत से मतभेदों के बावजूद बौद्धेतर दर्शनों में ज्ञान को आत्मा या चित्त की एक क्रिया के रूप में स्वीकार किया गया है। इसका आरम्भ आत्मा या चित्त में ही होता है। आत्मा या चित्त को इस ज्ञान-रूप क्रिया का स्वतन्त्र कर्त्ता कहा जा सकता है। किसी वस्तु का ज्ञान आत्मा या चेतना में जानने की स्वतन्त्र इच्छा रूप व्यवसाय का ही फल है। नैयायिकों ने ज्ञानारम्भण का हेतु सन्देह और इच्छा को स्वीकार किया है। इनके अभिमत में ज्ञान की प्रक्रिया क्षणिक नहीं है। यह सत्ता से सम्बद्ध और उसमें प्रवृत्त होकर ही पूर्ण होती है। अतएव ज्ञान अपने आरम्भण में विषय से तो स्वतन्त्र है लेकिन इसकी पूर्णता अन्ततः विषयाश्रित ही होती है। संभवतः इसीलिए शंकराचार्य को भी ज्ञान की वस्तुतन्त्रता स्वीकार करनी पड़ी थी। इसी तरह प्रमाणों की सम्पादनात्मकता भी प्रमेयतन्त्रात्मक ही है। यह 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' के दावे को अन्ततः कमज़ोर बना देता है।

'मानाधीनामेयसिद्धिः' की निष्पत्तियों की विवचेना करते हुए ज्ञान की प्रामाणिकता का प्रश्न भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रमेयसिद्धि का प्रश्न केवल ज्ञप्ति तक सीमित नहीं बल्कि प्रामाणिकता को भी उसमें सम्मिलित किया जाना चाहिए। पूर्व एवं उत्तरमीमांसकों की दृष्टि में ज्ञान का प्रामाण्य स्वयं ज्ञान में निहित होता है। यह अपनी प्रामाणिकता को कहीं बाहर से आयातित नहीं करता। प्रामाणिकता ज्ञान में प्रागनुभविक रूप से प्रदत्त होती है। दूसरे शब्दों में, ज्ञान अपनी प्रामाणिकता को लिए हुए ही उत्पन्न होता है। मीमांसकों ने ज्ञान की उत्पत्ति और प्रामाण्य में कारणत्व को स्पष्टतया स्वीकार किया है।[12] मीमांसकों की ऐसी धारणा बहुत हद तक वेदप्रामाण्य की धार्मिक भावना से अनुप्राणित रही है। इसकी समीक्षा विशुद्ध ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से करते हुए कहा जा सकता है कि प्रामाणिक ज्ञान में विषय की पूर्वापेक्षा आवश्यक रूप से निहित रहती है। आत्मा में ज्ञान की प्रक्रिया का आरम्भ जिस सीमा तक विषय से स्वतन्त्र स्वीकार किया जा सकता है उसी सीमा तक ज्ञान की प्रामाणिकता को विषय-निरपेक्षता प्रदान नहीं की जा सकती। यदि विषय की अध्यक्षता में ही स्वतःप्रामाण्यवादी ज्ञान की प्रामाणिकता के प्रश्न को सुलझाना चाहें तो कम से कम उन्हें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ऐसी किसी वस्तु का ज्ञान ही नहीं हो सकता जिसका अस्तित्व नहीं हो। साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि जिस किसी का ज्ञान होता है उसका अस्तित्व ज्ञान से स्वतन्त्र ही होता है। परञ्च ऐसी मान्यता को अंतिम रूप से स्वीकार किया जाना सम्भव नहीं। यदि स्वीकार कर भी लिया तो साथ में यह भी मानना पड़ेगा कि ज्ञान की उत्पत्ति और प्रामाणिकता दोनों का सम्पादन एक अज्ञात चरम वैषयिक अध्यक्षता में होता है। ऐसे स्वतःप्रामाण्यवाद में तथाकथित प्रमाणों की क्या भूमिका हो सकती है? प्रामाण्यसिद्धि के अधिकार से प्रमाण सर्वथा वंचित हो जाते हैं। यदि अप्रामाण्य के परतः निर्धारण में प्रमाणों की भूमिका बताई जाय तो यह छलावा मात्र है, क्योंकि वास्तव में अप्रामाण्य वहां है ही नहीं।[12-अ]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नैयायिकों ने उपर्युक्त कठिनाइयों का परिहार करते हुए ज्ञान की प्रामाणिकता विषयक अवधारणा का परिष्कार किया है। ज्ञान की प्रक्रिया का आरम्भ आत्मा या चित्त की विषयात्मक विचक्षणा से होता है। यह विचक्षणा मात्र ही ज्ञान की पूर्णता नहीं। इस स्थिति में ज्ञान की प्रामाणिकता का प्रश्न ही नहीं उठता। न्याय-अभिमत में ज्ञान की प्रामाणिकता का प्रश्न ज्ञानक्रिया और उसके द्वारा विषयपरिच्छेदन-व्यापार से भी सम्बन्धित नहीं है। यह पूर्णतया प्रवृत्तिसाफल्य से प्रतिबन्धित होता है।[13] अतएव ज्ञान का आरम्भ विषय से स्वतन्त्र होते हुए भी अपनी प्रामाणिकता के लिए प्रवृत्तिसाफल्य पर निर्भर करता है। यह प्रवृत्तिसाफल्य न तो ज्ञान है और न ही कोई ज्ञेय विषय है। ऐसी स्थिति में ज्ञान की प्रामाणिकता विषय और ज्ञान की पारस्परिक निर्भरता से परे क्रियावृत्तिक हो जाती है। वस्तुतः नैयायिकों की दृष्टि में चेतना केवल ज्ञप्ति ही नहीं है बल्कि प्रवृत्ति-निवृत्ति मूलक व्यवहारपरकता है। ज्ञान की प्रामाणिकता का ऐसा निकष समस्या का भले समाधान प्रस्तुत करता हो लेकिन कम से कम उसे प्रमाणमूलक तो नहीं ही कहा जा सकता है।

इस प्रकार 'मानाधीनामेयसिद्धिः' की उपर्युक्त निष्पत्तियों की सामान्य समीक्षा से यह स्पष्ट होता है कि जहां तक ज्ञान की उत्पत्ति का प्रश्न है वह विषय से स्वतन्त्र होता है। विषय प्रदत्त होते हैं और ज्ञान का प्रदत्त विषय से कोई तनाव नहीं होता। प्रदत्त विषय की निजरूपता को ज्ञान सकारात्मक अथवा नकारात्मक रूप से प्रभावित भी नहीं करता है। ऐसी स्थिति में प्रमाणमीमांसा का कार्य विश्लेषण के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? 'प्रमेयसिद्धि' में प्रमाणों की भूमिका को खोज निकालने के अर्थ में अन्वेषणात्मक समझना एक भूल है। हम यह नहीं कह सकते कि किसी वस्तु को हम इस रूप से जानते हैं इसीलिए वस्तु ऐसी है और वस्तुविषयक हमारा ज्ञान ऐसा है। वास्तव में कहना तो यह चाहिए कि वस्तु ही ऐसी है, इसलिए तद्विषयक हमारा ज्ञान ऐसा है। एतावता 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' की निष्पत्ति इस बात में होती है कि प्रत्येक प्रमाणमीमांसा के लिए एक तत्त्वमीमांसा आवश्यक है लेकिन प्रत्येक तत्त्वमीमांसा के लिए प्रमाणमीमांसा पूर्वापेक्षित नहीं है। वस्तुतः तत्त्वमीमांसीय अधिशासन के बिना कोई प्रमाणमीमांसा प्रवर्त्तित ही नहीं हो सकती। यदि कभी कभी कोई प्रमाणमीमांसा अपनी विकसित अवस्था में तत्त्वमीमांसीय प्रत्ययों का कुछ अंशों में काट-छांट करती है तो इसे प्रमाणमीमांसीय ढांचे में तत्त्वमीमांसा को आबद्ध करने की तत्त्वमीमांसीय प्रेरणा ही समझा जाना चाहिए।

(III)

भारतीय दर्शन के इतिहास में सर्वप्रथम 'मानाधीनामेयसिद्धिः' के विपरीत 'मेयाधीनामानसिद्धिः' की दार्शनिक सूझ बौद्ध नैयायिकों ने प्रस्तावित की है। दिङ्नाग के पूर्व बौद्ध दर्शन में इतिविषयक एक ऊहापोहात्मक स्थिति के संकेत मिलते हैं। विग्रहव्यावर्तनी एवं वैदल्यसूत्रम् में नागार्जुन ने 'मानाधीनामेयसिद्धिः' के सम्भव विकल्पों का बलपूर्वक खण्डन किया है। उन्होंने अपने खण्डन में अन्य विकल्पों को उद्भावित करते हुए 'मेयाधीनामानसिद्धिः' को भी चतुष्कोटिक द्वन्द्वन्याय का ग्रास बना दिया है।"[14] ध्यातव्य है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कि नागार्जुन ने **विग्रहव्यावर्तनी** एवं **वैदल्यसूत्र** में **न्यायसूत्र** को पूर्वपक्ष बनाया है और न्यायसम्मत 'मानाधीनामेयसिद्धिः' का खण्डन करते हुए उसके विकल्प रूप में ही 'मेयाधीनामानसिद्धिः' का भी खण्डन किया है। इसलिए इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि नागार्जुन को 'मेयाधीनामानसिद्धिः' का मत स्वीकार्य था। नागार्जुन की कोई स्वमत प्रतिज्ञा नहीं। किसी भी मत में स्वगत अन्तर्विरोध दिखाना ही नागार्जुन की विचार-प्रक्रिया है। हां, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जैसे ह्यूम ने काण्ट को अन्धविश्वास की तंद्रा से जगा कर मानवीय ज्ञान के स्वरूप और सीमा पर बिल्कुल नये ढंग से सोचने के लिए प्रेरित किया था उसी प्रकार बौद्ध नैयायिकों को तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसा की जाँच की मूल प्रेरणा नागार्जुन से ही प्राप्त हुई होगी।

विज्ञप्तिमात्रतावादी वसुबन्धु 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' के सिद्धान्त से आपाततः प्रभावित होते हैं। वसुबन्धु को आगम प्रमाण स्वीकार्य है।[15] यदि प्रमेयमूलक प्रमाणसिद्धि का पक्ष उन्हें स्वीकार्य होता तो विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि के लिए आगम को स्वतन्त्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं होती। विज्ञप्तिमात्रता को प्रमाण के बिना भी स्वतःसिद्ध माना जा सकता था। दूसरी ओर वसुबन्धु ने विंशतिका में विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण प्रस्तुत किया है।[16] पुनः, विज्ञप्तिमात्रता को आधार बनाकर वसुबन्धु प्रमाण-प्रमेय व्यवहार की अवास्तविकता प्रतिपादित करने का भी प्रयास करते हैं। इस दूसरे पक्ष में वसुबन्धु स्पष्टतः तत्त्वदृष्टि को आलम्बन बनाकर प्रमाण के स्वरूप पर विचार करते हुए प्रतीत होते हैं। अतएव स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि 'मानाधीनामेयसिद्धिः' और 'मेयाधीनामानसिद्धिः' में वसुबन्धु को कौन सा मत स्वीकार्य था।

दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के ग्रन्थों में 'मेयाधीनामानसिद्धिः' जैसा कोई कथन नहीं मिलता है फिर भी "मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात्"[17] से 'मेयाधीनामानसिद्धिः' की प्रतिस्वीकृति द्योतित होती है। प्रज्ञाकर गुप्त के अनुसार अभिमत पदार्थ की सिद्धि के लिए प्रेक्षावान् व्यक्ति प्रमाणों का अन्वेषण किया करते हैं। अन्यथा प्रमाणों का अन्वेषण एक व्यसन के अतिरिक्त और क्या हो सकेगा?[18] वस्तुतः प्रमेयमूलक प्रमाणमीमांसा ही बौद्धों के लिए उपादेय है। बौद्ध प्रमाणमीमांसा की शुरुआत ही इस प्रश्न से होती है कि हमारे ज्ञान की वह कौन सी अवस्थाएँ हैं, उनके कौन-कौन से प्रकार हैं, उनकी क्या क्या विशेषताएँ हैं, जिनमें हम अपनी प्रमेयपृक्षा को व्यवस्थित कर सकते हैं? सर्वत्र प्रमेय-दृष्टि ही प्रमाणमीमांसीय संरचना में अभिव्यक्त होती है। इस पृष्ठभूमि में 'अविसंवादी ज्ञानं प्रमाणम्' 'प्रमेयकार्यं हि प्रमाणम्'[19] तथा 'अर्थक्रियाकारित्वं सत्' आदि प्रतिपत्तियों से बौद्ध नैयायिकों के अभिमत में 'मेयाधीनामानसिद्धिः' का ही अध्याहार होता है।

यदि अनात्मवाद और क्षणभङ्गवाद के परिप्रेक्ष्य में इस समस्या पर विचार किया जाय तो 'मेयाधीनामानसिद्धिः' का पक्ष ही सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन के लिए उपादेय प्रतीत होता है। प्रमाणों के द्वारा प्रमेयसिद्धि को स्वीकार करते हुए अनात्मवाद का पुरस्कार नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में प्रमाणों के पूर्वाधार रूप में आत्मा की सत्ता को स्वीकार करने की आवश्यकता हो सकती है। इस सम्भावित अन्तर्विरोध के कारण अनात्मवाद का त्याग

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अथवा प्रामाण्य ज्ञान की अस्वीकृति में से कोई एक ही स्वीकार करना पड़ेगा। उपर्युक्त दोनों विकल्पों में से किसी एक का भी त्याग बौद्ध दर्शन की प्रमाणमीमांसा के लिए संगत नहीं है। अतएव 'मानाधीनामेयसिद्धिः' का त्याग ही बौद्ध प्रमाणमीमांसा के लिए श्रेयस्कर है। क्षणभङ्गवाद की पृष्ठभूमि में उपर्युक्त समस्या पर विचार करते हुए कहा जा सकता है कि प्रमेयविषयक सन्देह की स्थिति में ही प्रमेयसिद्धि का प्रश्न उठता है। सन्देह की अवस्था में प्रमाण की खोज और संदिग्ध वस्तु ही प्रमाणशास्त्र का विचार्य विषय होता है। सन्देह एक समान विचार-प्रक्रिया और एक कोटि में एक से अधिक विकल्पों का अवगाहन है। इसके लिए एक स्थिर आधार का होना आवश्यक है, जिसमें एक ही कोटि के अन्तर्गत एकाधिक विकल्पों का अवगाहन हो सके। क्षणभङ्गवाद में तत्त्वतः क्षणविषयक एक से अधिक विकल्पों का अवगाही ज्ञान सम्भव नहीं। एतावता क्षणभङ्गवाद में किसी क्षणिक प्रमेय की सिद्धि के लिए प्रमाण का आलम्बन ही असम्भव हो जाता है। यदि व्यावहारिक दृष्टि से क्षण-सन्तान में एकत्व का आरोप करके एक में अनेक विकल्पों का अवगाहन मान भी लिया जाय और उससे उत्पन्न सन्देह की निवृत्ति के लिए प्रमाण को प्रमेयसिद्धि का असाधारण कारण भी कह लें तो भी प्रमाण से वास्तविक प्रमेय की सिद्धि नहीं होगी। प्रथमतया सन्देह की सम्भावना को पैदा करने के लिए क्षण-सन्तानगत एकत्व का आरोप और द्वितीयतः उस क्षण-सन्तानगत एकत्व में अवगाह्यमान दो या दो से अधिक विकल्पों का आरोप, जिनके बारे में प्रमाणपूर्वक सन्देह की निवृत्ति अभिप्रेत है। इस प्रकार क्षणभङ्गवाद में प्रमाण से कल्पित प्रमेय की ही सिद्धि हो सकेगी और दोनों अवस्थाओं में प्रमाणशास्त्र ही व्यर्थ हो जायेगा। एतावता प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि के बदले 'प्रमेयाधीनाप्रमाणसिद्धिः' ही सामान्य रूप से बौद्ध नैयायिकों के अभिमत में श्रेयस्कर प्रतीत होता है।[20]

बौद्ध नैयायिकों की वैचारिक योजना में ज्ञान और यथार्थ की परस्पर पृथक्ता नहीं है।[21] इस कारण भी उनकी प्रमाणमीमांसा में प्रमेयमूलकता का प्रवेश स्वाभाविक रूप से हो जाता है। बौद्ध नैयायिकों के लिए ज्ञान से परे और पृथक् किसी बाह्य वस्तु की सत्ता अमान्य है। ज्ञान से बाह्य प्रतीत होने वाली वस्तुएँ ज्ञान के ही आकारमात्र हैं। बाह्य जगत् में उनकी स्थिति एक विकल्पात्मक प्रक्षेपण और संरचना है। वस्तुतः ज्ञान का विश्लेषण ही अन्ततः हमें वैषयिक बाध्यता से सर्वथा मुक्त एक स्वसंवित् विज्ञान की ओर ले जाता है। यह स्वसंवित् विज्ञान कोई ज्ञान की वर्गणा न हो कर तात्त्विक सत् है। यही संपूर्ण प्रमाणमीमांसा का तात्त्विक अधिष्ठान है। बौद्ध न्याय में स्वसंवित् विज्ञान की पृष्ठभूमि में ही ज्ञान का द्वैरूप्य, प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ज्ञान का विभाजन तथा ज्ञानों की संश्लेषणात्मक एकता इत्यादि के मूलभूत सम्प्रत्यय व्याख्यात हुए हैं। तत्त्वमीमांसा की इसी आधारभूमि पर बौद्ध नैयायिकों ने स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण नामक विषय-द्वैविध्य तथा प्रत्यक्ष एवं अनुमान नामक प्रमाण-द्वैविध्य की प्रमाणमीमांसा को स्थापित किया है। बौद्ध न्याय की विज्ञानवादी तत्त्वमीमांसा के आलोक में उनकी प्रमाणमीमांसा का सुस्पष्ट एवं सुसंगत विवेचन थोड़ा दुरूह होता है, अतएव हमने यहां संकेत भर किया है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

(IV)

वस्तुतः प्रमाणमीमांसा एक 'अनुवीक्षा' है तो "मेयाधीनामानसिद्धिः" को ही सामान्य रूप से स्वीकार किया जाना चाहिए। विषय अपनी सिद्धि के लिए प्रमाण की अपेक्षा नहीं करते हैं। उनकी विधिरूप सत्ता को प्रमाणापेक्ष्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सिद्धि का सामान्य अर्थ आपादन होता है जो प्रमाणों के सन्दर्भ से सम्भव ही नहीं। 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' के पक्षधर भी इस बात को स्वीकार नहीं कर सकते कि प्रमाण से प्रमेय का आपादन होता है। यदि सिद्धि का दूसरा अर्थ साक्ष्य के आधार पर वस्तुस्वरूप का निर्धारण माना जाय तो भी इस प्रकार की सिद्धि की अपेक्षा विषय को नहीं बल्कि प्रमाणपक्षीय स्पष्टीकरण से सम्बन्धित है। परन्तु इस स्थिति में भी साक्ष्य के चुनाव का आधार क्या होगा? जिस वस्तु की सिद्धि करनी है उससे निरपेक्ष रहकर प्रमाणों का अन्वेषण ठीक वैसा ही है जैसे क्या बनाना है, इसका ध्यान रखे बिना औज़ार की रचना करना। अतः प्रमाण जो साक्ष्य जुटाता है वह साक्ष्य प्रमेय के स्वरूप को ध्यान में रखकर ही संभव है। इसलिए वस्तुस्थिति तो यह है कि जो लोग प्रमाणों के द्वारा प्रमेय की सिद्धि करते हैं वे भी प्रमाण के स्वरूप का निर्धारण करने के लिए सम्भावित प्रमेय को पूर्वकल्पित किये रहते हैं जिनकी देख-रेख में प्रमाणों का विनियोग होता है। "प्रमाणों से प्रमेय की सिद्धि होती है अतएव ज्ञानमीमांसा तत्त्वमीमांसा का पूर्वगामी है"—यह सामान्य अनुभव और सामान्यजन की विचार-सरणी है। सामान्य अनुभव के धरातल पर जहां एक दूसरे से असहमत होने के लिए अवकाश ही नहीं वहां प्रमाण की दार्शनिक जिज्ञासा भी नहीं होती है। जब हम प्रमाणों पर एक दार्शनिक दृष्टि से प्रश्न उठाते हैं तो प्रमाणमीमांसा के मुखौटे पर सर्वत्र तत्त्वमीमांसा के भूत की छाया ही दिखती है। यह पूछा जा सकता है कि जहां तक प्रमाणों के भाव से प्रमेयों के विधान का प्रश्न है इसे एक सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है परन्तु प्रमाणों का अभाव क्या प्रमेयाभाव का हेतु हो सकता है? प्रमाणाभाव अधिक से अधिक प्रमेय विषयक सन्देह को सूचित करता है।[22] ऐसा सन्देह न तो अभाव है, न ही अपर्याप्त भाव, बल्कि प्रमाणों की सीमा है जो प्रमेय की व्यापकता और प्रमाण की व्याप्तता को प्रदर्शित करता है। प्रमेयों की व्यापकता को स्वीकार करते हुए 'मानाधीनामेयसिद्धिः' के सिद्धान्तानुसार प्रमेयान्वेषण या तो अपर्याप्त होगा, या फिर प्रमाणातिक्रामी तात्त्विक जिज्ञासा की पूर्त्ति के लिए प्रमाणमीमांसा को अतार्किक विस्तार देना होगा, या फिर किसी उच्चस्तरीय गुह्य प्रमाण-स्रोत को प्रमाणमीमांसा में सम्मिलित करना पड़ेगा। ये सभी बातें 'मानाधीनामेयसिद्धिः' मानने वाले दार्शनिकों की प्रमाणमीमांसा में यत्र-तत्र देखी जा सकती हैं। आखिर यह सब कुछ अपनी प्रमाणमीमांसा को अभिमत तत्त्वमीमांसा के अनुरूप बनाने के लिए ही तो किया जाता है! बौद्धेतर प्रमाणमीमांसा का अतार्किक विस्तार प्रत्यक्ष के अलौकिक आयाम, जाति का प्रत्यक्ष एवं अनुपलब्धि के द्वारा अभाव को पदार्थ मानने इत्यादि सन्दर्भों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। नैयायिक अपने प्रमाण-सिद्धान्त को करणोपकरणपूर्वक व्याख्यात करते हैं। उदाहरण के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण हेतु षड्विध सन्निकर्ष की अवधारणा को लिया

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जा सकता है। यह षडविध सन्निकर्ष पदार्थों के वस्तुगत सम्बन्धों का ही तो एक ताना-बाना है जिसमें पदार्थ भी उतने ही सत् हैं जितना कि उनके बीच का सम्बन्ध! क्या पदार्थों के प्रकृत सम्बन्ध के बीच ही प्रत्यक्ष प्रमाण का फलित और उपलब्ध होना प्रत्यक्ष की नितान्त प्रमेयमूलकता नहीं है? क्या नव्यनैयायिकों का अनुमान का सिद्धान्त दो वस्तुओं के मध्य अनिवार्य, सार्वभौम एवं वस्तुनिष्ठ सम्बन्घ की तत्त्वमीमांसीय अवधारणा पर आधारित नहीं है? क्या गङ्गेश का केवलान्वयी व्याप्ति के प्रति अत्यधिक मोह प्रदर्शित करना, "अभिधेयत्वं ज्ञेयत्वं पदार्थत्वम्" की पूर्वस्वीकृति के अनुरूप अपनी प्रमाणमीमांसा को तराशने का उत्कट प्रयास नहीं है? क्या अद्वैतवेदान्तियों द्वारा केवलान्वयी का कट्टरता से खण्डन 'विज्ञातारं केन विजानीयात्' की प्रतिष्ठा मात्र नहीं है? इस प्रकार के कतिपय अन्य उद्धरण भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनके द्वारा प्रमाणमीमांसा पर तत्त्वमीमांसा के कठोर अधिशासन को दिखाया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त अधिकांश आस्तिक दर्शनों की प्रमाणमीमांसा में श्रुत्यादि आर्ष स्रोतों की महत्त्वपूर्ण भूमिका देखी जाती है। आर्षज्ञान के रूप में शब्दप्रमाण को स्वीकार कर लेने मात्र से शब्दप्रमाण द्वारा प्रस्तुत परिसीमा में प्रत्यक्षादि प्रमाण अपनी क्रियाशीलता के लिए प्रतिबन्धित हो जाते हैं।[23] ऐसी स्थिति में प्रत्यक्षादि प्रमाणों की संपूर्ण भूमिका का 'अपेक्षापूर्ति' में रूपान्तरित हो जाना स्वाभाविक है। क्या यह आनुभविक प्रमाणों पर, जिनके संदर्भ में 'मानाधीनामेयसिद्धिः' को प्रस्तावित किया जाता है, एक उच्च स्तरीय प्रमाण के द्वारा तत्त्वमीमांसा का आधिपत्य नहीं है? बौद्ध नैयायिक भी किसी न किसी रूप में बौद्धागम की प्रमाणता स्वीकार करते हैं तथापि उनके मत में बुद्धवचनों का आस्तिकों के शब्द-प्रमाण की तरह उपयोग नहीं किया गया है। धर्मकीर्ति ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से "प्रामाण्यं व्यवहारेण शास्त्रं मोह-निवर्तनम्" कहा है। प्रज्ञाकर गुप्त के अनुसार व्यवहार पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से स्पष्ट होता है कि शास्त्र मोह-निवर्तक है। पूर्वापर की विस्मरणमूलक असंगतियों की निवृत्ति शास्त्र से ही होती है।[24] यदि बौद्ध नैयायिक अपनी प्रमाणमीमांसा को बुद्ध की सर्वज्ञता आदि अवधारणाओं से कहीं सम्पूरित करते हैं तो भी यह उनके अभिमत में विरोधाभास को उत्पन्न नहीं करता।[25] अन्त में अवधेय है कि यदि 'मानाधीनामेयसिद्धिः' के पक्षधर अपनी प्रतिज्ञा के प्रति ईमानदार हैं तो उनके प्रमाणमीमांसीय प्रश्नों एवं निष्कर्षों में इतना भेद क्यों है? क्यों नैयायिकों के लिए प्रत्यक्ष का विषय "सामान्य विशिष्ट व्यक्ति" और मीमांसकों के लिए "सामान्य और विशेष का आश्रय व्यक्ति" और वेदान्तियों के लिए "महा सामान्य ब्रह्म" है? प्रमाणमीमांसा के उत्तल धरातल पर दिखने वाले ऐसे भेद वास्तव में तत्त्वमीमांसीय ही हैं और तात्त्विक पृष्ठभूमि में ही इनकी व्याख्या की जा सकती हैं।

(V)

इस प्रकार उपर्युक्त समीक्षा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'मानाधीनामेयसिद्धिः' के पक्षधर अन्ततः प्रमाणों का स्वरूप-निर्धारण एवं उनका विनियोग भी उसी रूप में करते

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हैं जैसी प्रमेय विषयक तत्त्वमीमांगीय अवधारणा को वे पूर्वकल्पित किये रहते हैं। अतएव 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' के बदले 'प्रमाणसिद्धिः प्रमेयाद्धि' को ही एक ईमानदार प्रमाणमीमांसीय प्रयास के रूप में समादृत किया जाना चाहिए। इसी के द्वारा प्रमाणमीमांसा और तत्त्वमीमांसा के मध्य अधिकाधिक संवाद की स्थापना हो सकती है। भारतीय दर्शन के आस्तिक सम्प्रदायों की प्रमाणमीमांसीय योजना में यह संवाद 'मानाधीनामेयसिद्धिः' के चलते कहीं कहीं आधारभूत रूप से व्यभिचरित होता हुआ प्रतीत होता है। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण ऐतिहासिक भी रहा है। वह यह कि आस्तिक न्यायशास्त्र उपनिषदों के 'वाकोवाक्' से प्रारम्भ होकर 'वाद विद्या' से होते हुए 'आन्वीक्षिकी विद्या' के रूप में विकसित हुआ है। इस दीर्घकालिक विकासक्रम में एक निश्चित तत्त्वमीमांसीय लक्ष्य का अभाव ही था। पहली बार वात्स्यायन ने न्यायशास्त्र को आन्वीक्षिकी विद्या के रूप में परिभाषित करते हुए उसे प्रमाणशास्त्र का रूप दिया और प्रत्यक्ष तथा अनुमान से आगम में कही गई बातों को प्रमाणित करना उसका लक्ष्य निर्धारित किया गया।[26] इस तरह आस्तिक दर्शनों की तत्त्वमीमांसीय संकल्पना जैसे जैसे स्पष्ट होती गई और उसके लिए प्रमाणशास्त्र की आवश्यकता महसूस हुई वैसे वैसे तत्तद् दर्शनों के प्रमाणशास्त्र पर तत्त्वमीमांसा का प्रभुत्व स्थापित होता गया। अतएव प्रमाणमूलक प्रमेयसिद्धि की अवधारणा का विकास प्रमेयतन्त्रात्मक प्रमाण-विनियोग में पर्यवसित होने का इतिहास है। बौद्ध प्रमाणमीमांसा का विकास बौद्धदर्शन के परवर्ती काल में हुआ है। उसके समक्ष एक निश्चित तत्त्वमीमांसीय लक्ष्य था। इसी के चलते एक तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसा का विकास सम्भव हो सका। भारतीय प्रमाण-मीमांसीय चिंतन में बौद्ध नैयायिकों की इस सूझ को एक क्रांतिकारी संशोधनात्मक पहल के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. विज्ञानभिक्षु : सांख्यकारिका : 4
2. वात्स्यायन : न्यायभाष्य : अनुबन्धचतुष्टय प्रकरण : आरम्भिक पंक्ति।
3. गङ्गेश उपाध्याय : तत्त्वचिन्तामणि : प्रत्यक्षखण्ड।
4. वल्लभाचार्य : न्यायलीलावति, पृ. 122 - नैयायिकानामनियतपदार्थवादित्वेन विरोधाभावात्।
5. नागार्जुन : विग्रहव्यावर्तनी 31 से 51 एवं वैदल्यसूत्र 2 से 19 तक।
6. चित्सुखाचार्य : तत्त्वप्रदीपिका-मानाधीनामेयसिद्धिः मानसिद्धिश्च लक्षणात्।
7. गौतम : न्यायसूत्र 2/1/19 न प्रदीपप्रकाशात् तत्सिद्धेः।
8. वात्स्यायन : न्यायभाष्य : न संविद्विषयनिमित्तानामुपलब्ध्या व्यवहारोपपत्तेः।
9. वही : 1/1/3 प्रमातुः प्रमातव्येऽर्थे प्रमाणानां सम्भवोऽभिसम्प्लवः असम्भवो व्यवस्थेति।
10. दिङ्नाग : प्रमाणसमुच्चय : प्रत्यक्ष परि (संस्कृत पुनर्रचना, आयंगर) सान्तरग्रहणं न स्यात् प्राप्तौ ज्ञानाधिकस्य च। अधिष्ठानाद् बहिर्नाक्षं न शक्तिर्विषये क्षणे॥
11. उद्योतकर : न्यायवार्तिक 1/1/4 : पूर्वपक्षेण दिङ्नागमतः इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं इत्युक्तां इन्द्रियस्याप्राप्यकारित्वात्।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

12. स्वतःप्रामाण्यवाद का निहितार्थ यह है कि किसी ज्ञान के प्रमात्व निश्चय में अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती है। प्रमात्मक ज्ञान की उत्पत्ति उस ज्ञान के बोधक जो सब कारण हैं उनके द्वारा ही हो जाती है। यह कैसे होता है, इस बात को लेकर पूर्वमीमांसकों यथा गुरुमत, भाट्टमत एवं मुरारी मिश्र में किंचित् भेद है। इन सबके मत में अप्रामाण्य परतः ही होता है। (लेखक की टिप्पणी।)

12-अ ध्यातव्य है कि ज्ञान की उत्पत्ति अप्रामाण्य रूप होती ही नहीं, इसीलिए तो प्रभाकर 'अख्याति' का प्रतिपादन करते हैं।

13. न्यायमतेन बहुधा उद्धृत—इदं ज्ञानं यथार्थं, सफलप्रवृत्तिजनकत्वात् यन्नैवं तन्नैवं। यद्यपि यहां अनुमान प्रस्तुत किया जाता है, तथापि यह एक प्रकार से अतिरेकताप्रसक्ति अथवा व्यर्थ है, क्योंकि सफल प्रवृत्ति हो जाने पर ज्ञान और प्रमाण दोनों ही व्यापार निवृत्त हो जाते हैं। "न हिं असंदिग्धेऽर्थे अनुमानं प्रवर्तते। सन्देहश्चार्थोऽनुमीयते"। इस दृष्टि से भी सफल प्रवृत्तिजनकत्व के उपरान्त अनुमान-प्रवृत्ति निरर्थक है। (लेखक की टिप्पणी)

14. द्रष्टव्य : विग्रहव्यावर्तनी : 31 से 51 तक।

15. वसुबन्धु : विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (विंशतिका) 22 कृतेयं सर्वथा सा तु न चिन्त्यावुद्धगोचरः।

16. वसुबन्धु : अनुमान का रूप : विज्ञप्तिमात्रमेवैतत् प्रतिज्ञा, असदर्थावभासनात्-हेतु, यथा तैमिरि-उदाहरण।

17. धर्मकीर्ति : प्रमाणवार्तिक 2/1, इस वार्तिक में द्वैविध्यात् पंचमी विभक्ति है। पंचम्यंन्त का प्रयोग हेतु भाव में होता है। अतः संपूर्ण पद का अर्थ विषय-द्वैविध्यपूर्वक प्रमाण-द्वैविध्य विदित होता है।

18. प्रज्ञाकर गुप्त : प्रमाणवार्तिकालंकारभाष्य : 204-अमृतः प्रामाण्यादभिमतार्थ-सिद्धिभासादयेयमिति प्रमाणतान्वेषणपरः प्रेक्षावान् नान्यथा। व्यसनमेव त्वन्यथा भवेत्।

19. धर्मोत्तर : न्यायबिन्दु टीका : 2/48 यह लक्षण बहुत प्रचलित नहीं है तथापि बौद्ध न्याय की दृष्टि से प्रमाण का यही सम्यक् सामान्यलक्षण होना चाहिए।

20. द्रष्टव्य : दार्शनिक त्रैमासिक : जनवरी 1987, प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय : क्या दिङ्नाग और धर्मकीर्ति विज्ञानवादी हैं?

21. दिङ्नाग : आलम्बन-परीक्षा : यदन्तर्ज्ञेयरूपं बहिर्वदवभासते।

22. धर्मकीर्ति : न्यायबिन्दु 2/48 प्रमाणनिवृत्तावप्यर्थाभावासिद्धरिति।

23. द्रष्टव्य : प्रो. ए. के. चटर्जी : इन्साइट एण्ड पाराडॉक्स इन बुद्धिस्ट फिलासफी : आन्वीक्षिकी : दर्शन उच्चानुशीलन केन्द्र, का. हि. वि. वि. वाराणसी, पृ. 182 अंक 6, 1973

24. प्रज्ञाकरगुप्त : प्रमाणवार्तिकालङ्कारभाष्य 1/222 : व्यवहारपरामर्शाच्छास्त्रंमोहनिवर्तनम्। पूर्वापरस्यास्मरणं शास्त्रेणैववार्यते।

25. इतिविषयक बौद्धप्रमाणमीमांसा की बुनावट पर उठने वाले पाराडॉक्स एवं समाधान के लिए द्रष्टव्य लेखक का निबन्ध : प्रमाण सम्प्लव एण्ड प्रमाण व्यवस्था : जे. आई. सी. पी. आर, पृ. 88 से 90, अंक 14 नवम्बर 2, 1997

26. आस्तिक एवं नास्तिक तर्कविद्या की प्राचीन परम्परा एवं विकास के लिए द्रष्टव्य : फणीभूषण तर्कवागीश : न्यायदर्शनम् (बंगला) प्रथमखण्ड की भूमिका।

दर्शन विभाग, सागर विश्वविद्यालय,
सागर (मध्यप्रदेश)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अभाव, अपोह और अनेकान्त*

दयाकृष्ण

'अभाव' 'अपोह' और 'अनेकान्त' ये अवधारणाएँ एक तरह से आपस में ऐसी मिली-जुली प्रतीत होती हैं कि एक को दूसरे से अलग करना मुश्किल मालूम होता है। पर इतिहास में जो चीज़ें हमको अलग अलग दिखाई देती हैं, या नहीं भी दिखाई देती हैं, उनमें फर्क इतना कम होता है कि वह नहीं दिखने जैसा ही होता है। फिर भी, ऐसे फर्क को लेकर लोग आपस में खूब लड़े हैं, खून की नदियाँ बहायी हैं, और कुछ इस तरह व्यवहार किया है जैसे वह 'फर्क' ही सब कुछ हो। दुनिया में 'मज़हबों' की कहानी ऐसी ही दिखाई देती है। ईसाईयों को लें या मुसलमानों को, दोनों की कहानी ऐसी ही लगती है। इनके सम्प्रदायों के आपस के झगड़े वैसे नहीं थे जैसे भारत में उत्पन्न हुए, अलग-अलग सम्प्रदायों या मज़हबों के, हालांकि यहाँ भी आपसी झगड़े कम नहीं थे। दर्शन की कहानी तो ऐसे 'बेकार' दिखाई देने वाले फर्कों के आधार पर ही खड़ी दिखाई देती है। जो लोग दार्शनिक नहीं होते उसमें उनको कोई मज़ा नहीं आता। उनकी यह समझ में नहीं आता कि आखिर क्या ये लोग ज़रा ज़रा सी बातों को लेकर आपस में बहस करते रहते हैं या जुबानी लड़ाई झगड़ों में फंसे रहते हैं। 'अभाव', 'अपोह' और 'अनेकान्त' को लेकर कुछ कुछ ऐसा ही लगता है। अभाव की बात करो तो अनेकान्त, जो इसके साथ लगा-बँधा है, उसकी बात करते ही जैनियों की याद आती है जो उस पर अपना विशेषाधिकार मानते हैं और अपोह का ध्यान आता है तो बौद्धों की याद आती है जो अपोहवाद के प्रतिपादक हैं। और इन तीनों की आपसी लड़ाई जो हज़ारों सालों तक चली है और आज भी चलती है उसके बारे में सबको पता है। उन्हीं की बातें हम पढ़ते हैं और पढ़ाते हैं और इनके आपसी झगड़ों पर किताबें लिखते हैं और लड़के लड़कियों से इम्तिहान में सवाल पूछते हैं। 'बेकार' समझी जाने वाली ऐसी बातों में ही पढ़ने पढ़ाने का धन्धा चलता है। और ऐसा लगता है कि आदमी बेकार की बातों में ही इस तरह लगा रहता है जैसे कि ज़िन्दगी-मौत का सवाल हो। बाकी तो रोज़-मर्रा की बातें हैं, वे तो उस बेचारे को ज़बर्दस्ती करनी ही पड़ती हैं। लेकिन उसको उनमें ज्यादा मज़ा नहीं आता।

अब अगर आपको अपनी अहमियत महसूस करनी है तो आप इन बेकार और बेवकूफी की बातों पर थोड़ा सा गौर करें। पहले अभाव पर सोचें। आखिर यह है क्या और इसको

---

* पिछले कुछ अंकों में प्रो. दयाकृष्ण की अप्रकाशित पुस्तक भारतीय दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप और उसकी परंपरा के मूल स्रोत पुस्तक का प्रथम अध्याय क्रमशः प्रकाशित किया जा रहा था। अब यह पुस्तक रावत पब्लिकेशंस, जयपुर से प्रकाशित हो गयी है इसलिए उसका आगे प्रकाशत बन्द कर दिया गया है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मानने की ज़रूरत क्या है? इसको मानने से परेशानियाँ कितनी और क्या पैदा हुईं और फिर उन परेशानियों को खत्म करने के लिए आदमी ने क्या क्या तरीके अपनाये? बात सीधी है। आप जहाँ भी बैठे हैं वहाँ बहुत कुछ है : दरी है, पलंग है, मेज़ है, कुर्सी है। मतलब यह है कि 'कुछ' है और जो भी कुछ आपको आँखों से, कानों से, नाक से पता चलता है, दिखाई देता है या आप सूंघ कर पता लगाते हैं, उस जगह आप इस 'कुछ' को रख सकते हैं। पर कभी कभी ऐसा भी लगता है कि आपको वह दिखाई देता है जो वहाँ नहीं है। मिसाल के तौर पर, आपके घर में कोई चीज किसी जगह रहती है और एक दिन जब आप बाहर से आते हैं तो एकाएक लगता है यहाँ कुछ था जो नहीं है। कोई चीज जो जहाँ थी वहाँ नहीं है और थोड़ी देर बाद आपको एकदम पता लगता है, 'दिखाई' देता है कि, जो लेम्प, कुर्सी या कोई और चीज, जो जहाँ रखी रहती थी वह वहाँ आज नहीं है। कभी जब घड़ी की टिक टिक बंद हो जाती है तो कुछ देर बाद लगने लगता है कि जो आवाज बराबर सुनाई दे रही थी वह आवाज अब नहीं है। फिर आप इस पर ध्यान देते हैं और ध्यान देने पर पता लगता है कि घड़ी बंद हो गई है।

हर आदमी की जिन्दगी में इस तरह की अनेक मामूली बातें होती हैं पर इनसे कोई सवाल या परेशानी नहीं उठती है। जो इन छोटी से छोटी बातों से परेशानियाँ पैदा कर लेते हैं या सवालों की झड़ी लगा देते हैं दार्शनिक उन्हीं को कहा जाता है। अभाव के बारे में भी कुछ इसी तरह की कहानी है। वैसे 'अभाव' और भी अजीब तरह के हो सकते हैं, जैसे किसी आदमी का 'जाना', 'ना होना' आपको ख्टकता है, परेशान करता है। जो नहीं उनकी याद बार बार आती है, वह याद उन लोगों से भी ज्यादा महसूस होती है जो आपके आसपास हैं। शायरी में तो इस तरह की बात बहुत होती है और शायरी के बारे में सोचें तो उन बातों के बारे में पता चलेगा जिन बातों को बताना मुश्किल होता है। पर इसकी बात बाद में करेंगे। अभी तो सिर्फ उन वस्तुओं की बात हो रही है जो आँख, कान, नाक आदि से दिखाई देती हैं या दिख सकती हैं।

जो चीज़ थी वह नहीं है, जो सुनाई देता था वह अब सुनाई नहीं देता है, और इस तरह से उनका 'नहीं होना' जैसे प्रत्यक्ष मालूम होता है। हालांकि वह है नहीं फिर भी वह वैसी ही मालूम पड़ती है, दिखाई देती है, सुनाई देती है जैसी वह थी। लेकिन जो कभी था ही नहीं, कभी सुनाई ही नहीं दिया, उसके बारे में हम कहें कि वह नहीं है तो वह 'नहीं होना' एक दूसरे प्रकार का 'होना' है। पर वह 'होना' किस प्रकार का है? यही अभाव की समस्या है। एक कमरे में जहाँ हाथी नहीं है, घोड़ा नहीं है, मोर नहीं है, उनका नहीं होना किस प्रकार का नहीं होना है? जरा ध्यान से देखें तो जो चीजें नहीं हैं उन सब को न गिनाया जा सकता है न बताया जा सकता है। लेकिन इस बात से यह कौन कहेगा कि वे सब हैं! और थोड़ा और सोचें तो लगेगा कि जो वहाँ नहीं है, जिसका वहाँ अभाव है, वह हमें प्रभावित करता है। हम उस चीज को लाने की कोशिश करते हैं जो नहीं है, और जब वह आ जाता है तब हमें खुशी होती है और हम अपने जीवन को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सार्थक मानते हैं। अब जरा सोचिये मरना क्या है? मृत्यु से ज्यादा अभाव की अनुभूति क्या होती है? जो मर गया वह चला गया। पर उसके परिजनों के लिए तो वह तब उससे भी ज्यादा होता है जितना कि वह जब जिंदा था तब था।

यही नहीं, आदमी अपने बारे में हमेशा यही महसूस करता है कि वह वह 'नहीं' है जो उसे होना चाहिए, और यह 'वह नहीं होने जो उसे होना चाहिए' का बोध उसे जितना परेशान करता है उतना शायद कोई चीज परेशान कभी नहीं करती होगी। दूसरों के बारे में तो यह बात साफ नजर आती है। दूसरों के बारे में हम अक्सर शिकायत करते हैं कि देखो कैसा आदमी है? शायद ही कोई आपकी तारीफ करेगा, अक्सर लोग बुराई ही करते हैं। बुराई करने का मतलब क्या है? कि वह है पर वैसा नहीं है जैसा उसे होना चाहिए। इस तरह दोनों तरह से सारी दुनिया 'अभाव' से भरी मालूम होती है।

कर्म के प्रसंग में तो यह बात सहज ही दिखायी दे जाती है किन्तु ज्ञान के संदर्भ में हमें अभाव की विद्यमानता को स्वीकार करने में कठिनाई होती है।

लेकिन थोड़ा सोचने पर यह साफ जाहिर होगा कि ज्ञान के संदर्भ में भी 'अभाव' की बात करना उतना ही जरूरी है जितना कि भाव और कर्म के संदर्भ में। ज्ञान की खोज का आरम्भ उस संशय से हाता है जिसमें आदमी को यह शक होने लगता है कि जो जिस ज्ञान को सच माने बैठा था वह वास्तव में सच है कि नहीं। **न्यायसूत्र** में तो 'संशय' को प्रमाण-व्यापार का मूलभूत पूर्वांग माना गया है जिसके बगैर ज्ञान की प्रक्रिया का प्रारम्भ ही नहीं हो सकता। विरासत में मिले हुए ज्ञान की जब तक हम अपूर्णता और दोषों को महसूस न करने लगें तब तक नये ज्ञान की खोज की शुरुआत ही नहीं हो सकती। यही नहीं, ज्ञान के संदर्भ में तो यह बात अक्सर ही की जाती है कि अगर ऐसा हो तो क्या होगा? या, अगर ऐसा हुआ होता तो क्या होता? इतिहास में तो यह सवाल हमेशा ही उठाया जाता है। इतिहास का हर लिखने वाला यह सोचे बगैर नहीं रह सकता कि अगर औरंगजेब की जगह दारा जीतता, या गाँधी जी की हत्या नहीं हुई होती, या इंदिरा गाँधी को उस तरह नहीं मारा जाता...। पर इससे भी ज्यादा जरूरी बात तो यह है कि आज के विज्ञान के संदर्भ में परीक्षण की प्रक्रिया एक प्रकार से अनिवार्य है और परीक्षण का एक अंग हमेशा यह होता है कि अगर ऐसा करें तो क्या होगा या क्या नहीं होगा। 'नहीं होना' ज्ञान की प्रक्रिया के लिए उतना ही जरूरी है जितना होना। यही बात जिसे अन्वयव्यतिरेक कहा जाता है उसके ऊपर भी लागू होती है। इससे भी अधिक, यदि आगे जाकर देखें तो विचार की प्रक्रिया में ही 'नहीं' या 'निषेध' का अनिवार्य स्थान है। ये निषेध अनेक प्रकार के होते हैं और इसे माने बगैर ज्ञान का स्वरूप समझा ही नहीं जा सकता। यही बात पूर्वपक्ष के खण्डन या मण्डन में लागू होती है। कहने का मतलब यह है कि अभाव का आभास ज्ञान की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिए उतना ही आवश्यक है जितना भावना या कर्म के जगत् में। इस तरंह अभाव पर विचार का भारतीय दार्शनिक चिन्तन में ऐसा महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है जिसकी ओर उन्हीं लोगों का ध्यान गया है जिन्होंने उस दर्शन का अध्ययन किया है और उस पर मनन और चिन्तन किया है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अपोह की बात प्रथम दृष्टि में इससे कुछ भिन्न लगती है, क्योंकि अपोह की चर्चा में किसी भी वस्तु के बारे में सोचने के संदर्भ में उन चीजों का आना अनिवार्य माना जाता है जिनके अस्तित्व का उस वस्तु का होना निषेध करता है। यह बात शुरू शुरू में तो अजीब लगती है कि आखिर जो चीज है सो है, उसको समझने की जरूरत ही क्या है जो वह नहीं है? लेकिन अनेक संदर्भों में मनुष्य यह समझने की कोशिश करता दिखाई देता है। यही नहीं, जो नहीं है उसे उसका अभिन्न अंग मानता है जो है। इसके कुछ उदाहरण आसानी से दिये जा सकते हैं। हर चयन की प्रक्रिया में जो नहीं चुना गया, जो रास्ता कहीं लिया गया पीछे उसे उतना ही जरूरी समझ उसका हम सपना लेते हैं। आधुनिक अर्थशास्त्र में एक अजीब उदाहरण मिलता है जिसकी साधारण मिसाल यह है कि अगर आपके पास कुछ पैसे हैं और बाजार में जाकर आप कुछ खरीदते हैं तो एक तरह से आपने उन सब चीजों को 'नकारा' है जो बाजार में उपलब्ध थीं किन्तु आप ने नहीं खरीदीं। यह सिद्धान्त बहुत कुछ अपोह जैसा ही है।

आम तौर पर 'अपोह' को इस तरह नहीं समझा जाता, लेकिन उस दृष्टि में जिसने इस सिद्धान्त को जन्म दिया है यह बात अनिवार्य रूप से अंतर्भूत है। आमतौर पर अपोह को इस तरह समझाया जाता है कि वह उन चीजों का निषेध करता है जिनका निषेध किसी विशेष वस्तु के होने में अंतभूर्त है। पर, यह अंतर्भूत होना क्या है? मान लीजिये यहाँ इस कमरे में इस समय घड़ा है, तो यह बात किसका निषेध करती है? कुछ लोग कहते हैं कि यह उन सभी का निषेध करती है जो वहाँ उसके बजाय हो सकता था। लेकिन इस कहने का मतलब क्या है? अगर कोई इस घड़े के बजाय कोई आदमी हो सकता था तो क्या यह उसका 'निषेध' होगा?

इस बात पर थोड़ा और ध्यान दिया जाना जरूरी है क्योंकि परम्परा में इसकी चर्चा हुई है। 'घड़ा' एक वस्तु है जो देश-काल में होती है, जिसमें द्रव्य, गुण आदि की चर्चा की जा सकती है। पर कोई कहे कि वहाँ आकाश नहीं है तो इसका क्या अर्थ होगा? इसी प्रकार कहे, वहाँ ब्रह्म नहीं है या जिसको हम गणितीय तथ्य कहते हैं वह नहीं है या, जिसको हम संख्या कहते हैं वह वहाँ केवल अपने एक रूप में ही विद्यमान है अन्य रूपों में नहीं, तो इसका क्या अर्थ होगा? यह बात कुछ कुछ उस तरह की है जैसी कि जब हम किसी वस्तु या घटना के बारे में बात करते हैं तो उसके बारे में किस प्रकार के गुणों की चर्चा कर सकते हैं? सब गुण सब चीजों में नहीं माने जा सकते। जैसे यदि कोई कहे कि 'संगीत नीला है' तो इसका कोई अर्थ नहीं है। 'नीला' पद का 'संगीत' पद के साथ प्रयोग नहीं किया जा सकता, न 'काला' का और न ही 'सफेद' का किया जा सकता है। अब, अगर हम 'संगीत' के संदर्भ में अपोह की बात करें तो इसमें पद-प्रयोग-विषयक उपर्युक्त परिस्थिति का क्या स्थान होगा?

इन उदाहरणों से जो बात पता लगती है वह यह है कि शुद्ध निषेध की बात करना बिल्कुल बेकार है। अभाव व अपोह विषयक चर्चाओं में ऐसा किया गया है। अभाव के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

संदर्भ में कम, अपोह के संदर्भ में अधिक। अब अभाव की बात देखें। 'यहाँ कोई चीज नहीं है' इसमें 'नहीं होने' का क्या मतलब है? इस पर हम पहले भी थोड़ी चर्चा कर चुके हैं, लेकिन अब इसे अनेकान्त के संदर्भ में देखें जो जैनियों का विशिष्ट सिद्धान्त माना जाता है।

अनेकान्त की चर्चा अभाव और अपोह के संदर्भ में नहीं की जाती। भारतीय दार्शनिक, वे चाहे बौद्ध हों या नैयायिक या कोई और, 'अनेकान्त' का प्रयोग तो वे ऐसे करते हैं जैसे वह कोई ऐसी मूलभूत गलती है जिसकी ओर इशारा करते ही उसकी बात समाप्त हो जानी चाहिए। 'अनेकान्तिक' होना उनके लिए एक ऐसी अक्षम्य भूल है जो कोई विचारक कर ही नहीं सकता। किन्तु जैन लोग इसे अपने सिद्धान्त के रूप में मानते हैं, इसलिए जैन चिन्तकों को अन्य दर्शन-सम्प्रदाय 'दर्शन' ही नहीं मानते। अगर ध्यान से देखें तो अनेकान्त की बात कुछ कुछ वैसी ही लगती है जैसी अभाव और अपोह की। अनेकान्त के सिद्धान्त में कहने की कोशिश है कि कोई भी वस्तु या वस्तुस्थिति एकांगी नहीं होती। उसके अनेक आयाम होते हैं और कालक्रम में उसमें अनेक परिवर्तन घटित होते हैं। इन सबको अगर हम एक साथ रख कर देखें तो उनमें परस्पर विरोध दिखायी देगा। जो आज है, या अब है वह कल नहीं होगा। कुछ संदर्भों में तो कुछ देर बाद भी ऐसा होता देखा जा सकता है। अब अगर हम उस चीज को या उस वस्तुस्थिति को वैसा ही मानें तो हमें यह मानना पड़ेगा कि उस वस्तु में परस्पर विरोधी दिखने वाले गुण विद्यमान हैं और इस तरह से जो अब उसमें नहीं है उसको भी इस दृष्टि से विद्यमान मानना पड़ेगा। किसी भी वस्तु में कई बार वे गुण उत्पन्न होते हैं जो उसके सम्बन्ध विशेष में आने पर प्रकट होते हैं। इससे उस वस्तु में क्या क्या गुण हैं, इसका हमें ठीक ठीक पता ही नहीं लग सकता। वस्तु के उन गुणों का पता अन्य वस्तुओं के साथ उसके सम्बन्ध से ही चलता है किन्तु वस्तुओं के साथ संभावना रूप से उस वस्तु के अनेक सम्बन्ध होते हैं। इस प्रकार वस्तुओं की संबंध-जनित यह अनंतता का यह कथन ही अनेकांतवाद है। इसका सीधा सादा अर्थ यह है कि हरेक चीज में अनन्त गुणों की संभावना निहित रहती है जो एक समय तो दिखाई नहीं पड़ती किन्तु जिसे हमें मानना पड़ता है, क्योंकि उसमें वह सब धीरे धीरे बाद में दिखाई पड़ती है। यह वस्तुओं के अन्दर छिपी अनन्तता है। वह हमें दृष्टिगोचर तो नहीं होती लेकिन दार्शनिक चिन्तन से हमें सहज रूप में उपलब्ध हो सकती है। इसलिए जैन दार्शनिकों का कहना है कि अन्य दर्शन-संप्रदायों के सिद्धान्त एकांगी हैं क्योंकि वे वस्तु के समग्र रूप को नहीं देखते हैं, केवल उस रूप को ही देखते हैं जो समय विशेष में दृष्टिगत है। किन्तु बुद्धि हमें बताती है कि वास्तव में उसमें अदृष्ट, अगोचर, अनन्त संभावनायें निहित हैं जो कभी न कभी हमें दिखेंगी।

इस तरह से देखने पर वस्तुओं में एक छिपी अनन्तता का ज्ञान हमें प्राप्त होता है और कुछ ऐसी भी प्रतीति होती है कि कोई वस्तु न पूर्ण रूप से जानी जा सकती है और न ही वर्णित की जा सकती है। और अगर हम ऐसा करने की कोशिश करेंगे तो ऐसा दिखेगा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कि हम ऐसी अन्तर्विरोधी बात कर रहे हैं जो कभी भी सत्य नहीं हो सकती। इसी बात को उन्होंने 'अवक्तव्य' कहकर बताने की कोशिश की है। किसी भी चीज़ का असली सत्त्व या तत्त्व अपने आप में इस अर्थ में अवक्तव्य है कि भाषा में उसे पूर्ण रूप से पकड़ा ही नहीं जा सकता। यही नहीं, अगर हम ऐसा करने की कोशिश करेंगे तो जो हम करेंगे वह अन्तर्विरोधपूर्ण होगा।

अभाव, अपोह और अनेकान्त ये अलग अलग दिखाई देने वाले सिद्धान्त हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित करते हैं कि किसी वस्तु या वस्तुस्थिति को सत्य कहने का अर्थ क्या है। यही नहीं, ये हमारा ध्यान इस ओर भी दिलाते हैं कि जो सत्य है या जो वास्तव में है उसका काल से क्या सम्बन्ध है। चीजों का काल में होने का अर्थ ही यह है कि उनमें परिवर्तन होता है, और परिवर्तन होने का मतलब यह है कि उसमें जो कुछ था वह बदल जाता है और कुछ नई चीज या गुण पैदा होते हैं। यही नहीं, यह निरन्तर परिवर्तन वस्तु में अपने आप होता है या दूसरी चीजों के सम्बन्ध में आने पर होता है, इसकी चर्चा इस सिद्धान्त में स्पष्ट रूप से नहीं देखी जा सकी। इस बात की चर्चा भी स्पष्ट की जानी चाहिए कि दो वस्तुओं का होना या एक दूसरे से अलग होना, क्या मायने रखता है। अनेकान्त के सिद्धान्त में तो इस सवाल का जवाब बहुत ही मुश्किल होगा कि दो कही जाने वाली, या दो अलग अलग दिखाई देने वाली वस्तुओं में किस प्रकार भेद किया जा सकता है? यही बात कुछ कुछ अपोह के बारे में भी है। जिन चीजों में अपोह की बात की जा रही है उनमें स्वयं की सत्ता क्या है या उनमें अपना सत्य क्या है? जो लोग 'अभाव' की बात करते हैं उनके लिए भी यह सवाल उतने ही महत्त्व का है कि अभाव 'किसका' है और जब किसी का अभाव समाप्त हो जाता है तब क्या होता है? संभावना, कल्पना या मानसिक और बौद्धिक रूप से सत्य होने और असली तरह के सत्य होने में भेद क्या सार्थक है? क्योंकि भेद करे बिना तो इन सबकी चर्चा ही नहीं की जा सकती।

एक अन्य प्रश्न जो विचारकों को दूसरी दिशा में ले जाता है वह यह है कि क्या ये सब समस्याएँ भाषा के प्रयोग से उठती हैं? भाषा अनेक भेद करती है। वह 'नहीं' के प्रत्यक्ष को जन्म देती है जिसको सत्य माने बगैर वह कुछ कह ही नहीं सकती। यही बात भाषागत विचार में भी दिखायी देती है। विचार भाषा के बगैर नहीं होता। लेकिन जहाँ भाषा है या विचार है वहाँ अभाव आदि को मानना पड़ेगा। और अगर अभाव और संभावना वस्तुगत नहीं है तो फिर इन्हें विचार की ही उपज मानना पड़ेगा। इस प्रकार कहने पर ऐसा लगता है कि चेतना का स्वरूप ही ऐसा है कि उसमें नकारने की शक्ति विद्यमान है। 'ऐसा हो सकता है' और 'ऐसा नहीं है' ऐसा कहते ही वह उसको सत्ता प्रदान करती है जो नहीं है। इस बात को भी दो तरीके से देखा जा सकता है। एक यह कि जब चेतना स्वयं से स्थित है तो उसके नहीं होने का प्रश्न नहीं किया जा सकता है। पर जैसे ही चेतना आत्म-चेतन होकर प्रश्न पूछती है या किसी क्रिया में संलग्न होती है या विमर्श करती है, तभी 'जो नहीं है' उसे अपनी परछाई के रूप में जन्म देती है। वही भाषा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

में अभाव के रूप में और चिन्तन में नकारने के रूप में व्यक्त होता है। यह 'वह' है जिसकी सत्ता को न नकारा जा सकता है और न स्वीकार ही किया जा सकता है। यही चेतना की विडम्बना है और इसी से बचने के लिए दार्शनिक चिन्तन या विमर्श चेतना के उस शुद्ध रूप की खोज करता है जिसमें न कोई प्रश्न उठता है न समस्या। ऐसी स्थिति में न अभाव होता है न अनेकान्त और न ही अपोह। जहाँ तक नैयायिकों व बौद्धों का प्रश्न है, वे तो शायद इस बारे में एकमत हैं कि उस अवस्था में चेतना ही नहीं रहती। नैयायिकों के मोक्ष में तो चेतना ही नहीं होती अतः वहाँ प्रश्न उठने की कोई सम्भावना ही नहीं हो सकती। यही बात निर्वाण के बारे में भी है। वहाँ तो 'कुछ' भी नहीं है तो फिर अपोह या अभाव की बात बेकार ही नहीं असंभव भी है। यही नहीं, बोद्धों के 'चित्त' को 'क्षण-भंग' मानने पर अपोह की चर्चा ही नहीं हो सकती। जहाँ तक जैन दर्शन का सम्बन्ध है वहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या केवली का ज्ञान अनेकान्तिक है? स्वयं महावीर से जब यह प्रश्न किया गया था कि सिद्धि सान्त है या अनन्त, तो उनका उत्तर कुछ इसी प्रकार का था। उन्होंने वहाँ पर कहा था कि द्रव्य की दृष्टि से सिद्धि या मोक्ष की अवस्था 'सान्त' है और इसी प्रकार देश की दृष्टि से भी सान्त है, किन्तु काल और पर्याय की दृष्टि से अनन्त है। इस उत्तर में दृष्टि-भेद निहित है और अगर महावीर की बात को सच मानें तो सिद्धि की अवस्था में 'भेद' रहता है और रहेगा। पर क्या वास्तव में उसे रहना चाहिए? महावीर प्रश्न का उत्तर दे रहे थे पर उस अवस्था में नहीं जब वे परम केवली की अवस्था में पहुँच गये थे। क्योंकि वह तो देह-त्याग के बाद ही संभव हो सकती है। लेकिन क्या उस अवस्था में पहुँचने पर केवली की आत्म-चेतना इस प्रकार के भेद कर सकती है, या उसमें इस प्रकार की दृष्टियाँ 'उत्पन्न' हो सकती हैं? उसके ज्ञान को तो 'सर्वज्ञ' का ज्ञान कहा जाता है और सर्वज्ञता में न ज्ञान अनेकान्तिक हो सकता है और न ही उसका रूप 'सप्तभंगी'। ये तो ज्ञान की अपूर्णता के परिचायक हैं और जिसे अभी सिद्धि प्राप्त नहीं हुई है वही अनिवार्य रूप से अपनी सीमित दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में सत् और ज्ञान को इस रूप में देख सकता है। सीमित और सान्त चेतना का ज्ञान शब्द में, भाषा में बंधा होता है, और भाषा की सीमा ही उसके ज्ञान को एक प्रकार से अनेकान्तिक रूप में प्रस्तुत करने को बाध्य करती है। यही बात अपोह और अभाव के बारे में सत्य दिखाई देती है। निर्वाण की अवस्था में अपोह की बात करना बेकार लगता है और मोक्ष की अवस्था में 'अभाव' की। अपोह या अभाव या अनेकान्त तीनों उस आत्मचेतन प्राणी के ज्ञान में प्रतीत होते हैं जो सान्त है और अपूर्ण है और जिसका ज्ञान अनिवार्य रूप से आबद्ध है। इनमें आपस के भेद उस दृष्टि-भेद से उत्पन्न होते हैं जो इस अपूर्णता और सीमा को समझने की चेष्टा करती है। यह दृष्टि-भेद आत्मचेतना के उन तीन पक्षों की ओर ध्यान दिलाता है जो आत्मचेतना के ज्ञान में अनिवार्य रूप से संलग्न हैं। और यह तीनों एक दूसरे को समझने में सहायता ही नहीं करते बल्कि आत्मचेतन प्राणी की अपनी अवस्था को समझने में भी मदद करते हैं। अभाव या अपोह या अनेकान्त

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

न केवल हमारे ज्ञान की अपूर्णता के द्योतक नहीं हैं बल्कि उसको एक ऐसा आयाम भी देते हैं जिसके द्वारा हमारा अपूर्ण और सीमित ज्ञान पूर्णता की ओर निरन्तर अग्रसर होने की प्रक्रिया में संलग्न होता है। यह बात ज्ञानमीमांसा के संदर्भ में अधिक स्पष्ट नहीं दिखाई देती परन्तु जब हम कर्ममीमांसा, मूल्यमीमांसा और भाषामीमांसा की ओर बढ़ते हैं तब हमें अभाव, अपोह, और अनेकान्तिकता अपने नये रूपों में प्रकट होते दिखाई देते हैं। वहाँ 'भेद' दोष रूप में उपस्थित नहीं होता और न ही अनेकान्तिकता उस प्रकार दिखाई देती है जैसी वह ज्ञान के संदर्भ में अक्सर दीख पड़ती है। यहाँ तो वह ऐसी अनेक नई संभावनाओं को उत्पन्न करती प्रतीत होती है जो हमारे जीवन को अधिक सार्थक और चेतना को अधिक मूल्यवान् बनाते हैं। अभाव से हम जीवन में 'भाव' की ओर अग्रसर होते हैं और अपोह से 'अपने' को पाते हैं और अनेकान्त के द्वारा अनेक दिशाओं में सतत अग्रसर होते हैं।

इस प्रकार से देखने पर ये सिद्धान्त हमें एक-दूसरे के पूरक प्रतीत होते हैं और हमें इनमें एक ऐसी नई सार्थकता दिखाई देती है जो स्वयं हमारे जीवन को भी सार्थक बनाती है।

बी- 189 ए, विश्वविद्यालय मार्ग,
बापूनगर, जयपुर-302015

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

काव्य-तत्त्व 2

यशदेव शल्य

पीछे[1] हमने 'सत्य' को 'शिव' और सुन्दर' से अन्तर्निविष्ट अवधारणा के रूप में प्रतिपादित किया था। इस सम्बन्ध में कुछ सुधी जनों[2] की प्रतिक्रियाएँ जानकर कुछ स्पष्टीकरण की आवश्यकता जान पडी। यह आवश्यकता इसलिए है क्योंकि 'सत्य' शब्द का प्रयोग सामान्यतः उससे भिन्न प्रकार से होता है जिस प्रकार से हमने इस लेख में किया है—सत्य करना, सत्य हो जाना, के रूप में। यद्यपि हमने इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग अन्यत्र भी अनेक बार किया है[3] किन्तु वहाँ इसमें शिव और सुन्दर का अन्तर्निवेश उस प्रकार स्पष्ट रूप से नहीं प्रतिपादित किया गया जिस प्रकार इस लेख में किया गया है, यद्यपि वहाँ भी यह अभिप्रेत उसी प्रकार रहा है जिस प्रकार इस लेख में। शब्द-प्रयोग में यह प्रकट भेद केवल प्रसंग के अनुरोध के कारण ही है। उपर्युक्त प्रतिक्रियाओं में एक प्रतिक्रिया थी कि हमने **मूल्यतत्त्व-मीमांसा** के 'कला का अन्वेष्य' अध्याय में कला का अन्वेष्य सौंदर्य के विपरीत सत्य को कहा है और इस सम्बन्ध में प्रचलित धारणा को अस्वीकार्य कहा है। इस प्रकार इस लेख का प्रतिपादन 'कला का अन्वेष्य' लेख के प्रतिपादन से भिन्न, यदि विपरीत नहीं तो, हो जाता है। यह सही है, किन्तु 'काव्य-तत्त्व' लेख में सत्य को शिव और सुन्दर से अन्तर्निविष्ट कहते हुए हमें 'कला का अन्वेष्य' लेखगत प्रतिपादन का ध्यान नहीं था ऐसा नहीं है। इस प्रकट विरोध का स्पष्टीकरण हमने उस लेख में इसलिए नहीं किया क्योंकि वह अवान्तर प्रसंग में जाना होता, अन्यथा प्रसंगोपात्त रूप से इन दो प्रतिपादनों में अविरोध स्पष्ट दिखायी देता है। 'काव्य-तत्त्व' लेख में भी काव्य का अन्वेष्य सौंदर्य को नहीं कहा गया है सत्य ही को कहा गया है, केवल यहाँ सत्य के अर्थ की संपूर्णता शिव और सुन्दर के उसमें अन्तर्भाव में देखी गयी है।

वास्तव में सत्य और सुन्दर बहुत अनिश्चित अवधारणाएँ हैं यद्यपि शिव उतनी अनिश्चित अवधारणा नहीं है। एक पाश्चात्य अनुभववादी-तार्किक प्रत्यक्षवादी दार्शनिक टार्स्की ने सत्य को इस प्रकार परिभाषित किया है—" 'बाहर वर्षा हो रही है' कथन सत्य है यदि बाहर वर्षा हो रही हो तो।"[4] इस संप्रदाय के दार्शनिक 'सत्य' की यही परिभाषा स्वीकार करते हैं और वास्तव में वे यही परिभाषा स्वीकार कर सकते हैं। 'सत्य' शब्द का साधारण प्रयोग भी मूलतः इसी अर्थ में होता है। किन्तु यह प्रयोग इस शब्द का बहुत ही साधारण और स्थूल अर्थ में प्रयोग है। प्रकटतः बहुत कुछ इसी अर्थ में सत्य को लेते हुए मैंने 'कला का अन्वेष्य' अध्याय में कहा है कि कलाकार विषयितया गृहीत अर्थ की अनुकृति प्रस्तुत करता है। किन्तु विषयितया गृहीत या भावित अर्थ की यह अनुकृति कैसी होती है और यह कैसे प्रस्तुत की जा सकती है? 'ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष रूप में गृहीत' विषय की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अनुकृति और 'विषयितया भावित भाव की अनुकृति' इन दो स्थितियों में 'अनुकृति' का अर्थ आधारतः भिन्न हो जाता है किन्तु इससे काव्य या अन्य कलाकृतियों के सत्य या असत्य होने की बात नहीं बदलती। फिर 'सत्य' शब्द के ऐसे प्रयोग भी हैं, और साधारण प्रयोग ही, जैसे 'वह अपने प्रति सच्चा है,' 'वह सत्य परायण है' आदि। इसके भी आगे, महात्मा गाँधी का सत्य को ईश्वर कहना और साथ ही उचित उद्देश्य के लिए उचित विधि से संघर्ष करने को 'सत्याग्रह' कहना, अपनी आत्मकथा को 'सत्य के प्रयोग' कहना, गुरु ग्रंथ साहिब का सिरीवाहे गुरु को 'सत्तनाम' कहना, ये सब भी 'सत्य' शब्द के ही प्रयोग हैं, चाहे इनके अर्थ को लोग सम्यक् रूप से नहीं समझते हैं। इन सब प्रयोगों में 'कर्म का अपने औचित्य के अनुरूप होना', 'आत्मा का अपने स्वरूप के अनुरूप होना', दूसरे शब्दों में 'जो तथ्यतः अपने स्वरूप के प्रतिरूप है उसे अपने स्वरूप के अनुरूप करना' आदि अभिप्रेत हैं जो स्वरूप शिवात्मक है, जो स्वरूप वैसा है जैसा उसे होना चाहिए। इनमें से किसी प्रयोग में देश-काल में घटित घटना से कथन की कथ्य से अनुरूपता अभिप्रेत नहीं है, जो टार्स्की की परिभाषा का आधार है और जिसके आगे अनुभववादी किसी अभिप्राय का औचित्य सोचने को भी तैयार नहीं हैं। 'सत्य' शब्द के ये उधार के प्रयोग नहीं हैं, केवल अधिक गहरे, अधिक गुरु और अधिक युक्त प्रयोग हैं। *बाहर वर्षा होने और उस होने को कहने में भी चेतना का अध्यवसाय के स्तर पर आरोहण कर रूप-रंग-हीन घटना मात्र को उसका रूप-दर्शन कराना, उसे भौतिक के निबिड़ अन्धतमस से बाहर निकालकर चेतना के प्रकाश में लाना प्रतिफलित होता है। यही तथ्य का सत्य होना है।* यही तथ्य का आत्मदर्शन, यही उसका तमस से प्रकाश में प्रवेश जब गहन आत्मग्लानिजन्य आत्मालोड़न में अथवा दार्शनिक विमर्श या काव्य में अपनी अथाह गहराइयों और अनन्त विस्तार को नापने चलता है तब इसके स्वरूप की शिवता और सौंदर्य भी सहज प्रकट हो जाते हैं। वास्तव में शुद्ध सत्य एक उद्गृहीत (एब्स्ट्रेक्ट) अवधारणा है जिसमें विषयी से पृथक्कृत विषय अपनी एकान्त तथता में कल्पित किया जाता है और उसकी उतनी ही वर्ण-हीन भाषात्मक प्रतिकृति प्रस्तुत की जाती है। इसका आदर्श रूप ऐसी शुद्ध भौतिकता में ही सिद्ध होता है जिसका विषयी से पृथक् अपना कोई स्वरूप नहीं हो सकता, जैसाकि काँट की स्वलक्षण वस्तु (थिंग इन इट्सेल्फ) की कल्पना में देखा जा सकता है। किन्तु चेतना अनिवार्यतः शिवत्व और सौंदर्य की अपेक्षी होती है। शुद्ध सत् के लिए या तो उसमें कोई अवकाश नहीं होता अथवा सत् उसमें केवल एक साध्य स्थिति रहता है जिसमें सब अशिव और असुन्दर निरस्त हो जाते हैं—बौद्धों के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की विषय स्वलक्षण वस्तु के समान। इसी को हमने 'तथ्य का सत्य होना', अधिक उपयुक्त शब्दों में, 'तथ्य द्वारा अपना सत्य पा लेना' कहा है। निश्चय ही विषयार्थ के अनुसंधान में यह बात उतनी सहज स्पष्ट नहीं होती और हमारे अनुसंधानों का सहज रूप विषयपरक ही होता है। विज्ञान, दर्शन और शास्त्र यही करते हैं। किन्तु कलाओं में अनुसंधान विषयिता का आयाम लेता है इसलिए उनमें सत्य का तत्परक रूप गौण और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

शिव तथा सौंदर्यपरक रूप मुख्य रहता है। किन्तु ऐसी विषयपरक स्थिति में भी जैसी 'बाहर वर्षा हो रही है' वाक्य में अभिहित है, वाक्य अपने अभिप्राय में इस अभिधेय तक ही परिसीमित नहीं होता, इसमें वर्षा की वांछनीयता-अवांछनीयता आदि भी व्यंग्य रहती हैं। इस प्रकार इसके अर्थ की संपूर्णता में वर्षा होने की सूचना मात्र उद्‌गृहीत अर्थ ही होता है। विज्ञान विषयिनिरपेक्ष विषयता के अनुसंधान का आदर्श रूप कहा जा सकता है जिसकी सिद्धि के लिए वह गणितीय समीकरणों की भाषा का अवलंबन करता है, किन्तु वह भी इसके आधार में एक वैश्व नियम और विषय की संरचनात्मकता को पूर्वगृहीत करने को बाध्य होता है, क्योंकि गणितीय समीकरण उसके बिना अर्थ-शून्य रेखाएँ मात्र रह जायेंगे। किन्तु नियम तथा संरचना दोनों चेतनामूलक अवधारणाएँ हैं।

यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि 'बाहर वर्षा हो रही है' कथन जिस घटना या वस्तु-स्थिति का कथन करता है वह स्वतः तो मूल्य-निरपेक्ष रूप में ही घटित होती है। मनुष्य के लिए उसका कुछ मूल्य भी है यह उसके सम्बन्ध में उससे पृथक् बात होती है, और उपर्युक्त कथन उसी का कथन करता है, और इस कथन की सत्यता-असत्यता इसी में होती है। यह ठीक है जहाँ तक इस घटना के भौतिक लोक में घटित होने का सम्बन्ध है, किन्तु टार्स्की के अनुसार भी स्वयं इस घटना के घटित होने में कुछ सत्यासत्य नहीं है। यह घटना सत्यासत्य कथन से बनती है, बल्कि कहें सत्यासत्य कथन ही होता है, घटना नहीं, और इस कथन के अर्थ की संपूर्णता में यह घटना, या कहें अर्थ, एक उद्‌गृहीत अवयव मात्र होती है। इस पर कहा जा सकता है कि, 'तो यह भी वर्षा का उपयोगी-अनुपयोगी होना ही हुआ, शिव-अशिव होना नहीं, और जैसाकि हम जानते हैं जगद्व्यवस्था स्वयं से जीव या मनुष्य के भी, उपयोगानुसार नियत नहीं है। प्रथमतः तो विश्व एक व्यवस्था है यह कहने के लिए ही हमारे पास कोई आधार नहीं है, और यदि इसे व्यवस्थित मान भी लिया जाये तो यह भी उपयोगिता-अनुपयोगिता और शिवता-अशिवतामूलक है ऐसा कहने के लिए हमारे पास कोई आधार नहीं है।

इसके उत्तर में हम इतना ही कहना चाहेंगे कि व्यवस्था के बिना जगत् कल्पनीय ही नहीं है। साधारण प्राणि-व्यवहार और विज्ञान भी इसे व्यवस्थामूलक पूर्वगृहीत कर ही प्रवृत्त होते हैं। किन्तु यदि यह मान भी लें कि यह स्वयं में ऐसा नहीं है तो हमें यह भी मानना होगा कि इसमें सत्य की प्रतिष्ठा भी संभव नहीं है, क्योंकि उसके सत्य होने के लिए उसका व्यवस्थित होना आवश्यक है। वैदिक ऋषि के इस कथन में कि "यह जगत् मनीषी कवि द्वारा शाश्वत रूप से याथातथ्यतः रचित है" यही दृष्टि है।

किन्तु यहाँ हमारे लिए यह विवेच्य नहीं है कि जगत् वास्तव में ही याथातथ्यतः व्यवस्थित : अपने सत्य में प्रतिष्ठित : है या नहीं, किन्तु मनुष्य कम से कम अपने को और अपने जगत् को अपने सत्य में सहज प्रतिष्ठित नहीं पाता। इस सत्य का केवल वह अपनी बुद्धि में एक अस्पष्ट और अनिश्चित-सा आभास मात्र पाता है। वह अपने अस्तित्व और अस्तित्व क़ी युक्तता में विशाल खाई देखता है। विज्ञान (यहाँ इस शब्द को भौतिक,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जैविक और सामाजिक नियोजन-विधि के व्यापक अर्थ में लेते हुए) के रूप में वह अपने जगत् के सत्य स्वरूप को जानने-समझने का और उसके अनुसार उसे साधने का प्रयत्न करता है, धर्म के रूप में वह आत्म-स्वरूप का आभास पाने और उसके अनुसार अपनी प्रवृत्तियों को साधने का प्रयत्न करता है, और कला के द्वारा वह अपने भावलोक का अवगाहन करने और उसके सत्य को समझने और साधने का प्रयत्न करता है, दार्शनिक विवेचन द्वारा वह जगत् और जीवन के इन विभिन्न सत्यों को एक परम सत्य में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करता है। दर्शन इस परम सत्य का दर्शन चेतना के स्वकीय प्रकाश में ही करता है, यह बात यहाँ ध्यातव्य है।[5] वास्तव में मनुष्य के अस्तित्व और उसके सत्य, उसके होने और उस होने की युक्तता के बीच अन्तराल का उद्‌भव ही उसके आत्मचेतन होने के कारण होता है और इसी आत्मचेतना में इस अन्तराल के निवारण के प्रयत्नों की प्रतिष्ठा होती है। इसलिए इस सबके तत्त्व को भी वह आत्म-दर्शन में ही पा सकता है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि सत्य में शिव के अन्तर्भाव की बात तो समझी जा सकती है किन्तु सौंदर्य के अन्तर्भाव की बात बुद्धिगम्य नहीं है। श्रेय और प्रेय को प्रायः विरुद्ध-स्वभाव ही देखा गया है, स्त्री-सौंदर्य को (या कहें स्त्री और पुरुष के सौंदर्य को परस्पर के लिए) अविद्या-जाल में फँसाने वाला, आत्मविमुख करने वाला, और इस प्रकार अशिव का हेतु ही देखा गया है। यह सही है। स्त्री-पुरुष के सौंदर्य का प्राकृतिक रूप भोग-वृत्तिक ही है। किन्तु प्रकृति में यह भोग शिव का साधन है, क्योंकि यह जीवन के सातत्य का हेतु बनता है। केवल मनुष्य के स्तर पर इसके इस रूप में व्यतिक्रम उत्पन्न होता है, क्योंकि इस स्तर पर चेतना में ही व्यतिक्रम घटित होता है। यह चेतना विषय-चेतना से आत्म-चेतना बनती है जिससे इसकी साधना-यात्रा एक सर्वथा दूसरी, बल्कि कहें विरुद्ध दिशा में अग्रसर होती है। यात्रा के इस चरण में चेतना प्राकृतिक नियम से नियुक्त नहीं रहकर अपने नियम की सर्जक और सर्ज़न के सत्य की अन्वेषी बनती है। प्राकृतिकता से विमुक्त इस चेतना के लिए सौंदर्य भोगार्थक नहीं रहता। प्रकृति के सौंदर्य-दर्शन में तो यह अर्थान्तर स्पष्ट लक्षित होता ही है—उसमें यह अतर्कित रूप से किसी गुह्य सत् के संकेत जैसा प्रतीत होता है, किन्तु मनुष्य का सौंदर्य भी बहुत बार उन्नायक उदात्त-भाव का व्यंजक ही बनता है—सुन्दर बालक और सुन्दर वृद्ध की चित्ताकर्षकता बहुधा उदात्त भाव की उद्‌भावक ही होती है। इसके विपरीत बहुत बार भाव की उदात्तता से भी चेहरा सौंदर्य-दीप्त होता है, जिसे भव्य कहते हैं। इतना ही नहीं, रूप-सौंदर्य का दर्शन जहाँ भाव की उदात्तता की प्रतीति उपजाता है वहाँ किसी के भाव की उदात्तता अनदेखे रूप-सौंदर्य को दिखाने की हेतु भी बनती है। भाव-औदात्य द्वारा दिखाया गया यह रूप-सौंदर्य भी भोगेच्छा-संबद्ध हो सकता है, किन्तु वह स्वयं से भोगार्थक नहीं होता, वह पुण्य भाव का व्यंग्य ही रहता है। सुन्दर रूपवान् व्यक्ति में शील का अभाव पाकर हमें वैसा ही आघात लगता है जैसा मरीचिका के प्रकट हो जाने पर लगता है। राम और कृष्ण एवं सीता और पार्वती का रूप-लावण्य तो भाव-औदात्य का ऐसा सहकारी है कि इनमें कौन किसका हेतु

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है यह नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार रूप-सौंदर्य को तब रूपका सत्य कहा जा सकता है जब वह भाव की उदात्तता का व्यंजक होता है, अन्यथा नहीं। साधारण व्यवहार में भी रूप-सौंदर्य दुश्शील का सहचर होने पर या तो शीघ्र विकर्षक लगने लगता है या फिर वह मात्र भोग का उद्दीपक मात्र रह जाता है, वह प्रेम और आदर का विषय नहीं रहता, क्योंकि उसमें व्यक्ति का उसकी समग्रता में सौंदर्य नहीं देखा जाता।

किन्तु जब हम सत्य में शिव और सौंदर्य को अन्तर्हित कहते हैं तब 'सौंदर्य' का अर्थ रूप का सौंदर्य नहीं होता, तब उसका अर्थ सौष्ठव मात्र होता है। एक युक्त विचार सम्यक् भी होता है और शिव भी, विचार की सम्यक्ता उसकी भाषा में अभिव्यक्ति के सौष्ठव की पर्याय होती है और शिवत्व उसके चेतना को आलोकित करने का। यहाँ ध्यातव्य है कि सभी भारतीय दर्शन ज्ञान को मोक्ष का हेतु मानते हैं। एक चित्र का सौन्दर्य चित्रित रूप की चित्ताकर्षकता के चित्रण में नहीं होता, उसकी व्यंजकता में और व्यंग्य भाव के महत्त्व में होता है। इस प्रकार चित्र का सौंदर्य शिव (व्यंग्य भाव के महत्त्व) और सत्य (व्यंजकता) का सहचर होता है और तीनों का संयोग चित्र का सत्य। यहाँ कहा जा सकता है कि बहुत से चित्र या अन्य प्रकार की कलाकृतियाँ अथवा साहित्यिक कृतियाँ प्रभाव में अशिव भी हो सकती हैं जबकि वे व्यंजकता में अत्यन्त सफल और सशक्त हो सकती हैं। यह सही है। किन्तु ऐसी कृति को हम कलात्मक रूप से असफल ही कहना चाहेंगे और उसके सौष्ठव को उसी प्रकार असुष्ठु जिस प्रकार ऊपर रूप-सौंदर्य को शील के बिना आत्म-असंगत कहा गया है। हमारी पुराण-कथाओं में असुर स्त्रियाँ माया-शक्ति से रूप-सौंदर्य धारण करती कही गई हैं। उपर्युक्त कलाकृतियों की सुन्दरता या प्रभावकता वैसी ही होती है। यहाँ शृंगार रस के सफल निर्वाह के लिए भरतमुनि द्वारा नायक-नायिका के सौंदर्य की परिभाषा उल्लेखनीय है। उनके अनुसार "नायक को जितेन्द्रिय, ज्ञानवान, नाना शिल्पों में विलक्षण, गम्भीर, उदार, धीर आदि होना चाहिए और नायिका को मृदु स्वभाव वाली, अचपल, मित भाषिणी, अनिष्ठुर, गुरुजन के प्रति आदरवाली, सलज्ज आदि होना चाहिए।"[6] इन गुणों को जीवन और काव्य दोनों में सौंदर्य की पूर्वापेक्षाएँ कहा जा सकता है, विशेषतः जितेन्द्रियता, धीरता, गम्भीरता, उदारता आदि को और मृदु भावमयता, अचपलता आदि को। इनके बिना रूप-सौंदर्य आसुरी माया मात्र रह जाता है। यहाँ रवीन्द्रनाथ ठाकुर की **चित्रांगदा** नाटिका का और **देवदास** पिक्चर का उल्लेख स्थाने होगा। ठाकुर की नाटिका में रूप-सौंदर्य से हीन चित्रांगदा अर्जुन को विवाह के लिए तत्पर करने के लिए तपस्या कर देवता से एक वर्ष के लिए सौन्दर्य का वर माँगती है। केवल एक वर्ष के लिए इसलिए क्योंकि रूप-सौंदर्य वास्तविक सौंदर्य के लिए सहज संकेत बनता है। इसके विपरीत **देवदास** पिक्चर में वेश्या देवदास के औदात्य से उसके प्रति न केवल अशेषतः समर्पित हो जाती है बल्कि स्वयं आमूलतः रूपान्तरित भी हो जाती है। इसमें औदात्य सौन्दर्य के आविर्भाव का हेतु बनता है। पिक्चर में उनका शारीरिक सम्बन्ध दिखाया नहीं गया है और न उसके होने और नहीं होने का उस प्रेम में कोई अर्थ रह जाता है। वास्तव में प्रेम की उदात्तता में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

शरीर बाह्य और अन्तिम छोर मात्र रह जाता है, केन्द्रीय केवल हृदय रहता है, उसी में सौंदर्य का उज्ज्वलतम रूप प्रकट होता है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि मनुष्य अधिकांश में सत्य को देख पाने में असफल ही रहता है। अधिकांश में वह असत्य को ही सत्य मानकर उसमें नियुक्त रहता है। यही दार्शनिक, कलाकार आदि के लिए भी सही है। अनेक दार्शनिक ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष मात्र को सत् का ज्ञापक मानते हुए सूक्ष्म और कुशल विचार-तंत्र खड़ा कर पाते हैं और उसी में अपनी चरितार्थता देखते हैं, इसी प्रकार कलाकार प्राकृतिक आवेगों और प्रवृत्तियों के सशक्त चित्रण द्वारा महान कलाकार होने का भ्रम उत्पन्न करते हैं। किन्तु महान दर्शन तर्क-कौशल या महीन और जटिल सिद्धान्त रचना मात्र से संभव नहीं होता और न कला आवेगों के उद्दीपन में सफल निरूपण से महान रचना करने में सफल होती है। इन दोनों क्षेत्रों में, या जीवन में भी, महत् सिद्धि महान सत्य के दर्शन और उसे अभिव्यक्ति देने की सफलता से ही उपलब्ध होती है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. द्रष्टव्य उन्मीलन के जुलाई, 1999 अंक में तथा बहुवचन के प्रथम अंक में प्रकाशित 'काव्य तत्व' लेख।
2. इस लेख पर 'उन्मीलन गोष्ठी' में विचार हुआ जिसकी कार्यवाही इसी अंक में आगे प्रकाशित की जा रही है।
3. सत्ताविषयक अन्वीक्षा और मूल्यतत्त्व-मीमांसा पुस्तकों में भी इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हुआ है।
4. एल्फ्रेड टार्स्की : 'दि सिमेंटिक कॉंसेप्ट ऑफ ट्रुथ', : सिमेंटिक्स एण्ड दि फिलोसोफी आफ लेंग्वेज (सं.) लिओनार्ड लिस्की, प्रका. यूनीवर्सिटी ऑफ इल्लिनोइस प्रेस, 1952 में संकलित।
5. द्रष्टव्य यशदेव शल्य चिद्विमर्श पुस्तक का 'दर्शन का आरंभ-बिन्दु' अध्याय
6. नाट्यशास्त्र, खंड 3 श्लोक 9-10 यहाँ नगीनदास पारेख के अभिनव का रस विवेचन, विश्वविद्यालंय प्रकाशन, वाराणसी, 1974 पृ. 77 से उद्धृत।

पी-51, मधुवन पश्चिम,
किसान मार्ग, जयपुर-302015

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उन्मीलन-गोष्ठी 1

विषय — श्री यशदेव शल्य का उन्मीलन के जुलाई, 1999 अंक में प्रकाशित 'काव्य-तत्त्व' लेख।

यह गोष्ठी 22.12.1999 को प्रोफेसर दयाकृष्ण के घर पर हुई। इस में निम्नलिखित ने भाग लिया—प्रोफेसर दयाकृष्ण, डॉ॰ मुकुंद लाठ, श्री यशदेव शल्य, डॉ॰ नन्दकिशोर शर्मा, डॉ॰ के. एल. शर्मा, डॉ॰ योगेश गुप्ता, डॉ॰ सरला कल्ला, डॉ॰ अंजु ढड्ढा, डॉ॰ राघव प्रकाश शर्मा तथा डॉ॰ शैलजा। इस गोष्ठी में डॉ॰ मुकुंद लाठ ने तथा मैंने शल्य जी के उपर्युक्त लेख पर टिप्पणियाँ प्रस्तुत कीं, जिनके शल्य जी ने उत्तर दिये। इसके अनंतर लेख पर और टिप्पणियों पर विस्तृत विचार-विमर्श हुआ। यहाँ मुकुंद जी की तथा मेरी टिप्पणियाँ और शल्य जी द्वारा उनके उत्तर नीचे दिये जा रहे हैं।

सरला कल्ला

मुकुन्द लाठ

शल्य जी साहित्य पर बरसों से लिखते रहे हैं। आलोचक की संवेदनामयी दृष्टि से भी और दार्शनिक की तत्त्वान्वेषी दृष्टि से भी। दोनों ही दृष्टियाँ विमर्श चाहती हैं, पर दोनों के विमर्श में गहरा भेद भी होता है। भेद इस अर्थ में स्पष्ट ही होता है कि दर्शन साहित्य या कला की संवेदना बिना भी समीचीन और सार्थक हो सकता है—चाहे कुछ दार्शनिक इसमें असम्पूर्णता ही क्यों न देखें। साहित्यालोचना की अपनी विचार-शैली तो लगता है जैसे दर्शन की अपेक्षा भी नहीं रखी। यह सही है कि आलोचना भी विचार ही करती है, पर विचार वहाँ युक्ति का आधार नहीं लेता, न किसी सत्य या तत्त्व का संधान करता है। विचार वहाँ काव्य-जनित बोध को ही केन्द्र में रखता है, उसीको भाषा—या यों कहें कि 'परिभाषा' देने की चेष्टा करता है। 'परिभाषा' शब्द का प्रयोग यहाँ आलोचना की भाषा और साहित्य की भाषा में भेद करने के लिए कर रहा हूँ। साहित्य में भाषा जो बोध जगाती है, आलोचना उसीके विश्लेषण पर आधारित होती है—विमर्श द्वारा उसे 'परिभाषित' करती है। यह विमर्श साहित्य-जीवी होता है। साहित्य की तरह स्वतन्त्र नहीं। दर्शन में विमर्श स्वतन्त्र होता है। कुछ लोग दर्शन के विमर्श को विमर्शजीवी कहते हैं—विचार पर विचार। जैसे कह सकता हूँ कि आलोचना के विचार पर मैं यहाँ विचार कर रहा हूँ तो दर्शन की ओर उन्मुख हूँ। पर सत्य या तत्त्व क्या है? यह प्रश्न अगर दर्शन का प्रश्न है तो दर्शन को विचार पर विचार की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तत्त्व क्या है, यह प्रश्न एकवचन भी हो सकता है, बहुवचन भी। शल्य जी के इस लेख में बहुवचन ही है—इस अर्थ में कि किसी एक परमतत्त्व की नहीं, अन्य तत्त्वों में तत्त्व विशेष की जिज्ञासा कर रहा है। पर शल्य जी के, या किसी भी विमर्श-निष्ठ दार्शनिक के पाठक को यह भूलना नहीं चाहिये कि दर्शन के एकवचन और बहुवचन में एक संश्लेषण भी होता है। दार्शनिक का समूचा तत्त्वदर्शन एक तदात्म नहीं तो तदात्मधर्मी दृष्टि और विमर्श के सूत्र में पिरोया होता है। दर्शन का यही पुरुषार्थ है। और विचार का भी यही धर्म जान पड़ता है कि उसमें शिल्प की तरह ही परस्पर-भाव का एक अवयवी बने। कुछ दार्शनिक इससे इनकार करते भी हों तो शल्य जी नहीं करते। यह बात उनके अन्य लेखन से प्रकट है, जो विशद भी है और जिसमें तत्त्व-दर्शन का बहुवचन एकवचन भी साधता रहा है। तात्पर्य यह कि शल्य जी का कोई भी लेख सच पूछिये तो उनके विचार के एक बृहत्तर सन्दर्भ से अलग नहीं किया जा सकता।

शल्य जी ने 'काव्य-तत्त्व' में विचार का एक सूत्र उठाया है, जहाँ वे अपने चिन्तन को ऊह्य रखते हुए भी काव्य की अपनी प्रकृति को उभारने का एक नया द्वार लेते हैं। बात एक अपेक्षया छोटे से लेख में कही गई है इसलिए उसे बात का सूत्रपात ही कहना चाहिये।

तत्त्व की दृष्टि से काव्य या साहित्य की अपनी विशेषता को शल्य जी कवि की मनीषा के आधार पर देखते-आँकते हैं। 'मनीषा' न कहकर 'संवेदना' भी कहा जा सकता है, जो शायद अधिक समीचीन शब्द होगा। कवि की मनीषा संवेदना-प्रधान होती है, उस संवेदना के स्वरूप पर शल्य जी ने इस लेख में विचार किया है। उसे ज्ञान की कोटि में रखा है, इसलिए मनीषा कहना भी असमीचीन न होगा। शल्य जी ने कविर्मनीषी...कहा ही है।

लेख को एक पुरानी औपनिषद उक्ति की वृत्ति या विवृत्ति भी कहा जा सकता है। उक्ति लेख के आरम्भ में ही आती है : कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। जैसे शल्य जी ने उल्लेख भी किया है, यह **ईशोपनिषद्** की उक्ति है। यों वेद की भी कही जा सकती है क्योंकि **ईशोपनिषद्** को संहिता में ही स्थान दिया गया है। न भी दिया गया होता तो भी वेद की ऐसी ऋचायें मिल जायेंगी जहाँ यही बात कही गई है।

ईश की उक्ति के सिवा शल्य जी ने एक और उक्ति का सहारा लिया है जो परवर्ती काव्यमीमांसा की सूक्ति है। यहाँ काव्य-धारणा आर्ष नहीं अनार्ष है, रस-धारणा में बसी है। 'जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि।' इस उक्ति का पुराना पारंपरिक आशय रस-धारणा से प्रभावित है : कवि एक मनोहारी कल्पलोक में हमें ले जाता है, जो व्यवहार के लोक से अलग, निराला होता है। बात यहाँ **ईश** से उलटी दिशा में जाती है। शल्य जी यह जानते हैं, पर इसकी उन्होंने अपनी सी व्याख्या की है, जिसका आधार **ईश** की उक्ति को ही बनाया है। रवि को बाह्य चक्षु का प्रतीक लेते हुए शल्य जी कवि को अन्तश्चक्षु-सम्पन्न कहते हैं। वह वस्तु के बहिरंग के भी उसके अन्तरंग को देखता और उभारता है। **ईश** की उक्ति में उनके लिए कवि द्रष्टा ही नहीं स्रष्टा भी है। वह उस ईश्वर के तुल्य है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जिसने वस्तुओं को उनका 'यथातथ' रूप दिया है। यह यथातथ रूप उनका अन्तरंग है। इस अन्तरंग रूप को कवि ही पकड़ सकता है इसीलिए ईश्वर भी स्रष्टामात्र नहीं—जो कि बहिरंग की निर्मिति से भी हो सकता था—पर कवि है। इसलिए कि वह स्वयं अपना भी निर्माता है, अपने स्वरूप में स्थित हो कर वस्तुओं को स्थिति देता है। यही उनका 'यथातथ'—उनका धर्म, उनका स्वरूप—बल्कि मर्म है। यह मर्म सत्य-शिव-सुन्दर है। कवि की चेतना इस मर्म में जितनी स्थित होती है—जो उसका अपना भी मर्म है—उतना ही वह कवि होता है। इसी बात को यों भी कह सकते हैं कि कवि जितना ऋत का विधाता होता है—सृष्टि के अन्तरंग 'होने' को उसके होने के छन्द को—व्यापार-व्यवस्था को—अपने आप में और अपनी रचना में जगा सकता है, उतना ही वह 'मार्मिक' होता है। मर्म में बसा हुआ, मर्म को जगाता, 'सृष्ट' करता हुआ।

कवि यों ज्ञानी है। तभी शायद शल्य जी ने 'काव्य' के साथ 'तत्त्व' शब्द रखा है। उसकी प्रज्ञा उसी कोटि में आती है जिसमें धर्म, अध्यात्म और दर्शन की। शल्य जी के लिए इस प्रज्ञा के मूल में एक दृष्टि है : वस्तु यथातथ होती नहीं, उसे यथातथ होना होता है। कवि की प्रज्ञा में विशेष बात यह है कि वह नहीं होने की, नहीं हो पाने की व्यथा को जानता है। अनृत होने की वेदना को—जो मनुष्य की आत्मचेतना में तीव्रतम होती है क्योंकि वह आत्मदर्शी होती है। कवि की प्रज्ञा में इस वेदना की सं-वित् होती है। यही उसकी संवेदना कही जा सकती है। या उसकी विशिष्ट मनीषा, उसके ज्ञान की विशेषता।

इस प्रस्तुत लेख में यह एक नई बात है जो उसके पाठक को जैसे अलग से छू लेती है। लगता है यहाँ संवेदना तत्त्व-दर्शन पर हावी है। मैं समझता हूँ कि लेख की दिशा को यों रखा जा सकता है और रखते हुए शल्य जी के लिए एक प्रश्न भी रखा जा सकता है। अब अपनी बात को कुछ खोलता हूँ। शल्य जी का दर्शन मनुष्य को केन्द्र में रखता है, पर उनके यहाँ मनुष्य-तत्त्व जैसा कोई स्वयं-प्रतिष्ठ, स्वयं-सम्पूर्ण तत्त्व नहीं है। शल्य जी का दर्शन आधुनिक है, जिस अर्थ में प्रतिभा और विशेष कर विचार में प्रतिभा—सदा आधुनिक ही होती है। नव का सार्थक उन्मेष लिए होती है। ऐतिहासिकों में और आज के विशिष्ट युग-बोध का स्वरूप आँकने वालों में आधुनिक का एक सीमित, निर्धारित, परिनिष्ठित अर्थ भी होता है। इस अर्थ में 'आधुनिक' को एक दृष्टि-विशेष का पर्याय ठहराया जाता है। साथ ही एक काल-विशेष के साथ भी जोड़ा जाता है : वर्तमान काल में दृष्टि जटिल और बहु-रूप-शाली है, दो एक शब्दों में नहीं उतारी जा सकती। पर उसे एक शब्द में 'मानवतावाद' भी कहा ही जाता है। हाँ, इसका भी अभिप्राय एक शब्द में नहीं खोला जा सकता और इसमें तात्पर्य-भेद भी उभरेंगे ही। पर इतना कहा जा सकता है कि मानवतावाद मानव को सृष्टि के केन्द्र में ही नहीं रखता, ऐसा तो दूसरे युगों में और दूसरी दृष्टियों में भी हुआ है—पुराण ही इसके साक्षी हैं—मानवतावाद में नई, 'आधुनिक' बात यह है कि यहाँ मानव की मानो अपनी अन्यनिरपेक्ष स्वयं-सत्ता की ऐसी दुहाई है जो पहले नहीं थी। पहले मानव को केन्द्र में रखा भी जाता था तो इस अर्थ में कि मानव

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

में सृष्टि के सारे तत्त्व स्फुट होते हैं। इस अर्थ में नहीं कि मानव अपने-आप में एक स्वतन्त्र तत्त्व है। शल्य जी की दृष्टि मैं समझता हूँ इस पुरानी दृष्टि के अधिक निकट है। अपने पिछले चिन्तन में उन्होंने मानव को, उसकी अस्मिताबोध-विषय आत्मा को 'प्रतीक' कहा है, सृष्टि की उस प्रक्रिया का 'प्रतीक' जो किसी भी मानवतावादी अर्थ में मानव की अपनी 'मानवी' प्रक्रिया नहीं है। प्रक्रिया तात्त्विक है, मानव में प्रतिफलित होती है—उसकी आत्मचेतना में उसका स्पष्टतर बोध, स्पष्टतर इंगित पाया जा सकता है। शल्य जी के चिन्तन में यह भी उभरता है कि मानव का अपना कोई सिद्ध, प्रदत्त स्वभाव नहीं है। मानव एक संभावना है, आत्मनिर्मिति करता है। यों उसका आत्म पहले से प्रस्तुत कुछ नहीं, एक सृजन की यात्रा है। इसीमें वह अन्य जीवों से भिन्न है। उसकी आत्मचेतना और आत्मचेतना में अनिवार्यतः निहित स्वातन्त्र्य उसके सृजन को आधार देता है। पर यह सृजन उसके माध्यम से उस औपनिषद चित् का स्वच्छन्द आत्मविसर्जन है जो सत् भी है और शिव भी। आनन्द भी है। पर शल्य जी का विमर्श सत् और शिव की ओर ही अधिक झुकता है, आनन्द की ओर उतना नहीं। इसलिए पुराने आलंकारिकों से हटकर उनकी कलादृष्टि और विशेषकर साहित्य-दृष्टि रस से विलग सत् की ओर झुकी हुई है। और शिव की ओर। यह झुकाव 'काव्य-तत्त्व' में भी प्रकट है। यहाँ सत् के साथ ज्ञान भी जुड़ गया है जो पहले नहीं था। आप देखेंगे कि शल्य जी यहाँ सौन्दर्य की बात तो करते हैं पर उसे निरे आनन्द से—आस्वाद से—हटाते हैं। उसे शिव से अभिन्न करना चाहते हैं।

यहाँ लेख से अलग जा कर यह भूमिका मैंने इसलिए बाँधी है कि मुझे इस लेख में जो बात चुभ गई है उसका सम्बन्ध शल्य जी के दर्शन-निष्ठ बृहत् बोध से उतना नहीं है जितना उनकी संवेदना से है। हम पाते हैं कि उनकी संवेदना में मनुष्य और उसकी अपनी कहनी, करनी, सहनी—मनुष्य-लोक—ही अधिक व्यावृत्त है। शल्य जी की संवेदना साहित्य में ही अधिक बसी है। शल्य जी के दूसरे लेखन को भी देखें, जहाँ वे काव्य और काव्य-भिन्न कलाओं पर विमर्श करते हैं, तो भी उभरता यही है कि शल्य जी की संवेदना मूलतः साहित्य-धर्मी है। अगर उनकी संवेदना में संगीत, नृत्त जैसी स्वयंप्रतिष्ठ कलायें भी उतनी उजागर होतीं जितना कि साहित्य है, तो शायद वे रस की धारणा का वैसा निराकरण नहीं करते जैसाकि करते हैं। रस की धारणा नाट्य और साहित्य-चिन्तन से ही पनपी है, पर उसके मर्म में सात्त्विक-आस्वाद (या आनन्द), चेतना की बाहर से हटकर आत्म-विश्रान्ति—ऐसे जो गुण या लक्षण गिनाये गये हैं, वे साहित्य में उतने नहीं जितने नृत्त, संगीत में सहज ही गोचर होते हैं। साहित्य तो मनुष्य-मुखी ही रहता है, चेतना की आत्मविश्रान्ति वहाँ कहाँ? जिन्होंने मेरा पिछला लेखन थोड़ा देखा-पढ़ा होगा वे सोचेंगे कि मैं यहाँ अपना ही निराकरण कर रहा हूँ। मैंने संगीत, नृत्त में रस की धारणा का खण्डन ही किया है, मण्डन नहीं, जैसाकि यहाँ कर रहा हूँ। पर यह चर्चा और है, इसमें यहाँ नहीं जाऊँगा।

'काव्य-तत्त्व' से लगता है कि शल्य जी भी काव्य या साहित्य को प्रधानतः मनुष्यमुखी ही मानते हैं, हालांकि बात को मनुष्य तक सीमित नहीं रखते। और तभी रस की आस्वाद-धर्मी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

धारणा को काव्य के तत्त्व-दर्शन में असमर्थ पाते हैं। साहित्य—विशेष कर महत् साहित्य, साहित्य कहला सकने वाला कालजयी साहित्य—उसके लिए आस्वाद जैसा शब्द लंगड़ा ही नहीं झूठा जान पड़ता है। उसके वैभव को, उसके दैन्य को, उसकी वेदना को, उसकी ओछी-ऊँची एषणाओं को, आदर्शन को, शिव और सत्य की खोज पुरुषार्थ की निरहं यात्राओं को, इनकी विफलताओं को, इन सबको जैसे अलग रख देता है, या गौण कर देता है। पर यही मनुष्य का मनुष्यत्व है जो साहित्य की आत्मचेतना में अनुभव का द्रष्टाभाव पाता है। रस-चिन्तन मनुष्य के इस सत्य की उपेक्षा है। यह सत्य एक विचित्र सत्य है और कवि ही इसके अन्तरंग को पकड़ सकता है। संवेदना का 'ज्ञान', उसका 'मनुष्य-ज्ञान', होने के अन्तरंग को तो पकड़ता ही है, साथ ही उसे मूर्त्त, सजीव रूप भी देता है। उसे सचमुच निर्मित, आविर्भूत कर देता है। इस बात में भी यह 'ज्ञान' दर्शन और अध्यात्म से भिन्न है :

"उपनिषद् और बुद्ध, नागार्जुन और शंकर तत्त्व को अनिर्वाच्य या अनभिलाप्य, निर्गुण और निराकार कहते हैं किन्तु काव्य और कलायें वाक्, गुणों और आकृतियों में ही अपना तत्त्व और सत्य पाती हैं। उपनिषद् और बुद्ध राग-द्वेष और मानापमान से ऊपर उठने में ही जीवन की सिद्धि देखते हैं, किन्तु काव्य और कलायें इन्हीं के अन्तस्तल में प्रवेश कर अर्थों के अपार-पारावार का साक्षात्कार करती हैं।"

तो काव्य मनुष्य जैसा है उसीमें—उसी होने में—अपनी सार्थकता पाता है। यहाँ एक प्रश्न जागता है : यहाँ दृष्टि कुछ वैसे मानवतावाद की ओर झुकती नहीं दीखती? ऐसे मानवतावाद की ओर जहाँ मानव अपने आप में एक पूर्ण, स्वयंप्रतिष्ठ सत्ता सी पाने लग जाता है? हम पाते हैं कि कवि सृष्टि की, विशेष कर मानव की, कुछ और न हो पाने की—जो उसे होना चाहिये वह न हो पाने की—अन्तर्व्यथा को ही भीतर से नहीं जानता, मानव जो है, जैसा है उसकी अन्तःसमृद्धि भी कवि के ज्ञान में दिखती है। ऊपर जो वाक्य मैंने उद्धृत किये हैं उसी प्रसंग में शल्य जी आगे कहते हैं : "यह सही है कि दर्शन और धर्म जीवन को जीने की ही नीति बताते हैं, किन्तु उनका ऋजु पथ जिस वर्जित बीहड़ के बीच से होकर जाता है उसके फूलों और काँटों, हरियाली और धूल और पंक का अपना कुछ सौन्दर्य, अपना कुछ सत्य भी है यह कवि और कलाकार ही देख पाता है।"

यहाँ मनुष्य के उपलब्ध जीवन में, उसके दुःख-सुख में, शल्य जी ने सत्य और सौन्दर्य की बात की है। सौन्दर्य की बात हो तो रस की बात भी हो सकती है। रस को सौन्दर्य के भाव-पक्ष के रूप में देखा जा सकता है। हम कह सकते हैं कि रस वह आनन्द है जो सुन्दर की अनुभूति से चेतना में जागता है। रस और सुन्दर अयुतसिद्ध, अविनाभूत, परस्पर-नेय होते हैं। रस को हम आनन्द न भी कहें—अगर उसमें निरे आस्वाद की ध्वनि आती हो, भोग मात्र की ध्वनि—तो भी यह तो मानना ही चाहिये कि सुन्दर हमें सार्थक भी दिखता है। कुछ और सार्थक हो न हो सुन्दर तो सार्थक प्रतीत होता ही है। सत्य का बोध भी उसके गर्भ में होता है। शल्य जी ने ओस की बूँद में ऋत का संकेत देखा ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है। तभी शल्य जी ने सत्य-शिव-सुन्दर को एकात्म कहा है। ऋत का छन्द अशिव कैसे होगा? फिर यह भी है : सुन्दर के रस-बोध में एक निरहं, द्रष्टा-भाव भी होता है—यह उसे भोगमात्र से कहीं अधिक चेतना के अतल में उतार देता है। रस का विषय भोग्य ही नहीं भजनीय हो जाता है।

जो बात मैंने यहाँ उठाई है अगर उसमें कुछ बात है तो क्या हम यह नहीं कह सकते कि साहित्य मनुष्य को उसकी दैनन्दिन मनुष्यता से ही बाँध कर रख देता है? उसे ही सार्थक, अपने आप में साध्य—पुरुषार्थ—कर देता है? शल्य जी ने लेख में ही जो एक और बात कही है, उससे क्या यहाँ टकराव नहीं खड़ा होता? उन्होंने मनुष्य को कवि की तरह स्वयंभू कहा है। लेख के तीसरे पृष्ठ पर एक लम्बा सा पैराग्राफ है—जो मैं समझता हूँ लेख की जान भी है—वहाँ शल्य जी कहते हैं... "मनुष्य अत्यन्त जटिल वस्तु है। इसका मूल धर्म ही यह है कि इसका कोई स्थिर धर्म नहीं है, क्योंकि यह स्वयंभू है। यह न उस देश में रहता है जिस देश में यह होता है और न उस काल में जिस काल में यह होता है। अतीत या भविष्यत्, या संश्लिष्ट रूप में दोनों, इसका वर्तमान होते हैं, यह स्वतंत्र शक्ति-सम्पन्न है... ।" मनुष्य स्वंयभू और स्वतन्त्र इस अर्थ में है कि वह अर्थ-संधानी है—पुरुषार्थ की साधना में रत—वह सार्थक-भाव से 'हो' सकता है पर 'है' नहीं। वह अपने ऋतमय यथातथ की खोज में व्याकुल रहता है, उसमें स्थित नहीं। ईश्वर या कवि ही उसे अपने यथातथ ऋत का समर्थ संकेत दे सकता है।

क्या यहाँ यह ध्वनि नहीं जागती कि शल्य जी के लिए साहित्य जैसे द्विस्वभाव है? उसका एक स्वभाव वह है जो मनुष्य की पीड़ा को जानते-देखते हुए भी—और इसी कारण बड़ी सक्षम संवेदना के साथ—उसे यथातथ के ऋत की भूमि की ओर बढ़ाता है, पर दूसरा स्वभाव यह है कि साहित्य मनुष्य की रहनी-सहनी को ही, उसके यथास्थित 'होने' को ही जैसे एक याथातथ्य सा दे देता है? और थोड़ा डूबकर देखिये तो साहित्य की संवेदना मनुष्य की यथास्थिति को याथातथ्य ही नहीं देती, उसके प्रति एक लगाव भी देती है। उसका सहृदय-भाव मनुष्य को सत्य ही नहीं देता उस सत्य को हृदय में उतार देता है, हृदय को उससे बाँध देता है। उसके पुरुषार्थ को परिधि दे देता है। व्यवहार को ही अर्थमण्डित कर देता है। काम और धर्म, यही पुरुषार्थ रह जाते हैं। धर्म, अध्यात्म, दर्शन, शंकर, बुद्ध, इनका अभिप्रेत परमार्थ, मोक्ष और उसकी साधना नीरस और यो निरर्थक सी ठहरती है। यों साहित्य माया की मोहिनी का रूप लेता भी दिखता है। हम कह सकते हैं कि साहित्य द्विस्वभाव ही नहीं बहु-स्वभाव है—वैसा ही जैसी मनुष्य की जटिल, बहुमुखी, जाने-अनजाने क्षितिजों की ओर झाँकती-बढ़ती आत्मचेतना। फिर भी प्रवृत्ति और निवृत्ति, ये मौलिक भेद तो आत्मचेतना में किये जा ही सकते हैं। शल्य जी के लिए तो ये सृष्टि का आधार ही हैं। उनके लिए सृष्टि अर्थ-सृष्टि है जिसमें प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों गुँथे हुए हैं। पर यहाँ लगता है कि उनकी साहित्य-चेतना दोनों में एक विरोध जगा रही है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

क्या शल्य जी को ऐसा कोई द्विस्वभाव अभिप्रेत है जिसकी ध्वनि सी उनके लेख में उभरती है? मैं नहीं समझता कि ऐसा कोई परस्पर भिन्न द्विस्वभाव उन्हें इष्ट होगा। फिर भी प्रश्न रखता हूँ कि बात और स्पष्ट करें। प्रश्न इसलिए भी कौंध सा उठता है क्योंकि शल्य जी के चिन्तन में अन्यत्र साहित्य और कला को ज्ञान की कोटि में नहीं रखा गया है। साहित्य और कला की कृतियों को भाव-प्रत्यय कहते हुए उन्होंने इन्हें सत्य तो कहा है, पर उनके लिए ये ज्ञातृत्व के प्रत्यय नहीं हैं, ज्ञान के अन्तर्गत नहीं आते।

एक प्रश्न और मेरे मन में जागता है, उसे भी सामने रखता हूँ। सत्य और ज्ञान की बात को एक बार अलग भी रख दें तो हम देखते हैं कि शल्य जी शिव और सुन्दर के एकात्म होने की बात प्रखर-भाव से उठाते हैं—शिव और सुन्दर के अभेद को 'सुन्दर-शिव', 'शिव-सुन्दर' जैसे पदों में गूँथ कर, बड़े जागरूक भाव से दोनों को 'एक' बताते हैं। लेख में उनकी ऋत की धारणा और ऋतमय व्यवस्था की धारणा भी इसी बात की द्योतक है।

साहित्य के बारे में हम कह सकते हैं कि साहित्य शिवत्व की धरती पर ही खड़ा होता है। साहित्य का विषय मनुष्य होता है और मनुष्य का जीवन शिवत्व की धारणा को ऊह्य रखकर ही प्रेरित होता है। रुद्र, भयानक, वीभत्स, करुण, और हास्य विशेष भी, जहाँ अशिव का बोध तीखा होता है, वहाँ भी परिप्रेक्ष्य में कोई शिव होता है। जैसा शल्य जी ने कहा है, यह शिव कोई प्रथागत 'नैतिकता' या शील-आचरण की परंपरा या नियत समयाचार नहीं होता। यह शिव की एक गहरी चेतना या प्रज्ञा होती है जो रूप लेती है, परस्पर-भिन्न, विरोधी रूप भी ले सकती है, पर मनुष्य की व्यवहार-चेतना जिससे रीती नहीं होती। कुछ संवेदनशील विचारकों और साहित्यिकों का अनुसरण करते हुए हम यह भी कह सकते हैं कि शिवत्व-बोध की जिस अरूप लौ की हम बात कर रहे हैं वह साहित्य में—महत् साहित्य में—ही सबसे अधिक उजागर रहती है। साहित्य में सुन्दर भी उतना ही उजागर रहता है और यों साहित्य में शिव-सुन्दर का एकात्म-भाव देखा जा सकता है।

पर दूसरी कलाओं में? और प्रकृति के प्रति सौन्दर्य-बोध में? शल्य जी ने ओस की बूँद का उदाहरण लिया है, उसके बनने की, ढलने की गति—बल्कि छन्द कहना चाहिये—उसके पीछे एक ऋत की पहचान देखी है। पर आकाश को देखिये, वह शून्य का भी संकेत दे सकता है, विशुद्ध भव्य भूमा का; स्थिर, स्थाणु, सब कुछ से असम्पृक्त का। वहाँ शिव की बात कैसी?

फिर संगीत और नृत्त जैसी कलाओं को लीजिये। सम्बन्ध इनका भी मनुष्य की चेतना से होता है, उसके सौन्दर्य-बोध से—चेतना के दूसरे पक्षों से भी हो सकता है। अच्छे संगीत की गति में एक शांति होती है, चेतना की निरहं आत्मविश्रान्ति, एक सहज ताटस्थ्य-भाव। पर संगीत निरे उद्दीपन का भी माध्यम हो सकता है, भाव को इन्द्रिय से हटाने की जगह उसी की ओर आवेग के साथ धकेल सकता है। पर जो भी हो, संगीत का बोध मनुष्य 'का' होता है, मनुष्य के 'बारे में' नहीं होता। वहाँ शिवत्व की बात ही जैसे उठती नहीं दीखती। यही बात नृत्त—निरभिनय नृत्य—के बारे में भी कही जा सकती

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है। यह भी सोचिये कि नृत्त के विषय में एक बोध हमारे यहाँ पुराना है, और यहाँ स्मरणीय है : नृत्त के उद्भावक भगवान शिव हैं, और उनके नृत्त का सम्बन्ध प्रलय से है, जहाँ प्रवृत्ति मात्र को वे अपने निराकार में समाहित कर लेते हैं। इस दृष्टि से नृत्त का सम्बन्ध निवृत्ति से बैठता लगता है—उसका शिवत्व से सम्बन्ध कैसा? वह शिव के धवल अट्टहास की तरह है—उपेक्षा, उनमनी निवृत्ति में बसा हुआ।

कहा आया हूँ कि शल्य जी का यह लेख उनके साहित्य-कला विचार में—विशेष कर साहित्य-विचार में, एक नया मोड़ है। एक बात का 'अथ' है, जमाव-विस्तार नहीं। विचारों के सूत्र खुलते दिखते हैं, पूरी बुनावट नहीं। सूत्रों में दिशा-भेद उभरे, तनाव दिखे, यह स्वाभाविक है। प्रतीक्षा रहेगी कि संवेदना और विचार आगे कैसे बढ़ते हैं।

सरला कल्ला

'काव्य-तत्त्व' शीर्षक से लिखे गये लेख में शल्य जी के काव्य विषयक विचार उनके सत् या यथार्थ विषयक विचारों के संदर्भ में प्रस्तुत हुए हैं। फिर भी मुझे लगता है कि इन दोनों में से एक पर सहमत होते हुए भी दूसरे से असहमत हुआ जा सकता है। अब यदि मूल प्रस्थापनाओं पर ही असहमति दिखाई दे तो संवाद में आरम्भ से ही उलझनें आयेंगी। दूसरे, वहाँ से बात शुरू करने का अर्थ होगा एक वैकल्पिक विचार-योजना को समग्रता में प्रस्तुत करना। वैसी सामर्थ्य मेरी नहीं है। किन्तु शल्य जी के विचार के कुछ पक्षों की ओर इंगित कर सकती हूँ जो मुझे समस्या-प्रद लगे हैं। कला के स्वरूप पर शल्य जी ने पहले भी विस्तार से अनेक लेखों में विचार किया है। प्रस्तुत लेख कहीं पर उनसे हटता दिखाई देता है। इस परिवर्तन का ठीक ठीक निर्देश किस तरफ है यह इतना स्पष्ट नहीं है। उनके लेख के सार को संक्षेप में कहते हुए कुछ जिज्ञासाएँ आपके सामने रखती हूँ।

शल्य जी के अनुसार, किसी मनुष्य का या वस्तु का सत् उसकी 'तथता', उसका 'होना' मात्र नहीं है जो कि उसका बाह्य पक्ष भर है। इनका एक आंतर पक्ष भी होता है जिसे इनका विषयिता पक्ष कहते हैं, जिसे देख पाना ही वस्तु के याथार्थ्य को देख पाना है, उसके सत्य को, सौन्दर्य को, शिवत्व को देख पाना है। अन्तश्चक्षु से ज्ञात यह यथार्थ इसे आविर्भाव करने जैसा है और कवि यही करता है। इसीलिए वह मनीषी है और इस रूप में उसके कर्म का सत्त्व ईश्वर के सृजन जैसा है।

वस्तु का मर्म देख पाना सहज नहीं है, मनुष्य का तो और भी कठिन है। इसे देखने व उपयुक्त ऋत में व्यवस्थित करने का काम कवि की प्रतिभा ही कर सकती है। कवि मानो जड़, चेतन सबका आत्मकथाकार है, उनके अन्तर्मन में पैठने वाला, उनसे अन्तरंग होता हुआ, उनकी विषयिता के नये रूप को उद्घाटित करता हुआ उसे वाणी देता है। इस लोक में इसी जीवन के सुख-दुःख कवि की दृष्टि से सार्थक बन जाते हैं। कवि अपने कर्म के निर्वाह में अनिवार्यतः शिव से शासित होता है। शल्य जी मानते हैं कि कला अपनी चरमता में शिवत्व का, नैतिकता का स्थगन नहीं कर सकती, जो लोग 'कला कला

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

के लिए' या कला की नैतिकता से निरपेक्षता का विचार रखते हैं शल्यजी उनसे मूलभूत विरोध रखते हैं।

दूसरी ओर काव्य के रस-विषयक सिद्धान्त के प्रति भी उनकी गहरी आपत्ति है। वे मानते हैं कि रस-सिद्धान्त कला को आस्वाद्य रूप में देखता है जो कि अनुपयुक्त है। शल्य जी मानते हैं कि महान काव्य या उपन्यास अधिकांश में महान विचार से ही महान होते हैं। रस-सिद्धान्त काव्य के भावना पक्ष का ही आकलन करने के कारण दोषपूर्ण है। काव्य व अन्य कलाओं में भाव एक महत्त्वपूर्ण घटक है किन्तु उसे आधारभूत या व्यावर्तक नहीं कहा जा सकता। वे मानते हैं कि कलाओं में यह केवल संगीत में आधारभूत होता है। काव्य आस्वाद्य रूप न होकर सत् और शिव को उद्‌घाटित करने वाली दृष्टि का परिचायक होता है। दृष्टि की सम्यक्ता के अनूरूप ही काव्य महान होता है। दृष्टि की सम्यक्ता आचरण में भी प्रतिफलित हो यह ज़रूरी नहीं है। इस विरोध की व्याख्या क्या हो इस प्रश्न को अनुत्तरित छोड़ते हुए लेख समाप्त होता है।

यह स्पष्ट है कि काव्य के तत्त्व के रूप में लेख में जो भी कहा गया है वह 'कथ्य' से ही सम्बन्धित है, उस कथ्य का 'रूप' कैसा हो जो उसे काव्य की संज्ञा दे सके इस पर कुछ नहीं कहा गया है। बहुधा चर्चा में यह प्रश्न अवांतर होता है कि लेखक ने जो नहीं कहा, क्यों नहीं कहा, किन्तु ऐसे किसी संदर्भ में ऐसा प्रश्न वास्तव ही में उठाया जा सकता है जहाँ विचारणीय विषयवस्तु के कुछ आयाम गहन रूप से जुड़े हों, एक-दूसरे में अन्तर्ग्रथित हों। काव्य के सन्दर्भ में 'कथ्य' व 'रूप' अवियोज्य लगते हैं। काव्यतत्त्व पर लिखे गए लेख में काव्य के रूप पक्ष का उल्लेख भी नहीं हो यह खटकता है।

एक बात जो इस लेख में है और जो कला-विषयक उनके पूर्व के लेखों में नहीं है वह है कला के अन्तरंग पक्ष के रूप में सौन्दर्य की अवधारणा की स्वीकृति। अपनी बहुचर्चित पुस्तक **मूल्यतत्त्व-मीमांसा** में कला का अन्वेष्य विषय पर लिखे गए अध्याय में वे स्पष्ट करते हैं कि *कला का अन्वेष्य सत्य है, सौन्दर्य नहीं*। आगे वे यह भी कहते हैं कि *जहाँ अन्वेष्य सौन्दर्य हो वह शिल्प है, कला नहीं है।* इस लेख में शल्य जी की स्थापनाएँ उस याथार्थ्य को जो कवि का अन्वेष्य है सत्, शिव और सुन्दर की त्रयी के रूप में मानते हुए ही विकसित हुई हैं (यदि वे पूर्व में भी ऐसा ही मान रहे होते तो यह नहीं कहते कि कला का अन्वेष्य सत्य है और सौन्दर्य नहीं है। वे अपनी बात यों रख सकते थे कि सत्य सौन्दर्य से युक्त होता हुआ कला का अन्वेष्य बनता है।) वैसे काव्य का सौन्दर्य से सम्बन्ध क्या है इसका ठीक निरूपण कितना ही समस्यात्मक क्यों न हो, इनमें कोई गहरा सम्बन्ध है, यह सहज ही लगता है। सौन्दर्य उस दृष्टि में भी होता है जिससे कवि वह देख पाता है जो साधारण जन नहीं देख पाता और सौन्दर्य उसे व्यक्त करने के रूप का भी होता है। कभी कभी तो यह इतना प्रबल होता है कि वह कथ्य के साधारण होने पर भी उसे असाधारण बना देता है। कवि ने विषयिता के किस पक्ष को उन्मीलित किया और कैसे किया ये दोनों ही उसे श्रेष्ठ काव्य बनाते हैं। कई विचारक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ऐसे होंगे जो सौन्दर्य का सम्बन्ध रूप से अधिक मानेंगे, कथ्य से कम। शल्य जी चाहें तो इससे उलट भी मान सकते हैं। किन्तु इसमें मुझे सन्देह ही है। हम यहाँ सौन्दर्य की जिस तरह से बात कर रहे हैं शल्य जी को वह अभिप्रेत नहीं लगता। वे सम्भवतः सौन्दर्य का अर्थ 'नैतिक सौन्दर्य' के रूप में ले रहे हैं। यों सौन्दर्य का एक यह भाव भी होता ही है और निश्चित रूप से वह किसी भी नैतिक रूप से सजग व्यक्ति को आकर्षित करता है। किन्तु सौन्दर्य का इससे भिन्न एक आयाम है जो नैतिक बोध से भिन्न स्वतंत्र बोध है। मुझे लगता है कि ऐसा अनायास ही नहीं है कि शल्य जी काव्य के 'रूप' पर कुछ नहीं कहते। यदि वे सौन्दर्य का अर्थ नैतिक सौन्दर्य ही लेते हैं तो उसका सम्बन्ध कथ्य से ही हो सकता है, रूप से तनिक भी नहीं।

क्या शल्य जी अभी भी वहाँ हैं जहाँ पहले थे? सौन्दर्य और रस के प्रत्यय जो कला से अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं उन्हें परे हटाकर कला का विवेचन करते हुए? पर जैसाकि मैंने ऊपर कहा, यहाँ से बात आरम्भ करने का अर्थ होगा मूल प्रस्थान-बिन्दुओं पर असहमत होते हुए एक वैकल्पिक विचार-योजना प्रस्तुत करना। रस-सिद्धान्त की अयुक्तता दिखाते हुए वे कहते हैं कि काव्य व अन्य कलाओं में भाव एक महत्त्वपूर्ण घटक तो है किन्तु आधारभूत या व्यावर्तक नहीं है। अब यदि भावना काव्य का व्यावर्तक लक्षण नहीं है तो विचार भी नहीं है। जहाँ तक भावना के आधारभूत होने की बात है तो शल्य जी जो स्वयं **मूल्यतत्त्व-मीमांसा** के 'कला का अन्वेष्य' अध्यायों में भावित सत्य को कला का अन्वेष्य मानते रहे हैं, उसे 'वैचारिक सत्य' से अलग करते हुए वे भावना को आधारभूत घटक के रूप में कैसे अस्वीकार करेंगे? वैसे इस लेख में वे कहते हैं कि भावना संगीत में ही आधारभूत होती है। चलिए, उन्होंने संगीत को अन्य कलाओं से पृथक् किया, अन्यथा वे कलाओं को एक सूत्र में पिरोते रहे हैं। वहाँ भावना का स्थान उन्हें साहित्य में और चित्रकला में भी सहज ही जान पड़ा था, संगीत में भी ऐसा ही था। भावित सत्य का ही प्रकटन कलाओं में होता है वे ऐसा कहते रहे हैं। अब यदि मैं उनके पूर्व के लेख का उल्लेख कर रही हूँ तो इसीलिए कि वे स्वयं ऐसा मानते हैं कि उनका कोई एक लेख अक्सर उनके चिन्तन की समग्रता में ही समझा जा सकता है। वैसे पाठक के लिए ऐसा कर पाना किसी भी लेखक के संदर्भ में बहुत मुश्किल होता है, शल्य जी के संदर्भ में तो असंभव सा है। इसलिए हमेशा की तरह उनकी बात अंशतः ही समझ सकी हूँ, पूर्णतः नहीं। इस पर उनसे स्पष्टीकरण की आशा में बात समाप्त करती हूँ।

यशदेव शल्य

मुकुन्द जी ने अपनी टिप्पणी में पहले मेरे लेख के प्रतिपादन की मेरे मूल दार्शनिक चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में बहुत ही सुन्दर व्याख्या की है जो वे ही कर सकते थे और अनन्तर इस परिप्रेक्ष्य में इस लेख को रखते हुए कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये हैं। व्याख्या में व्याख्याकार की अपनी सूझ-बूझ भी थोड़ी-बहुत जुड़ जाती है, वह इस व्याख्या में भी हुआ है, किन्तु वह अधिकांश में मेरे विचार के उपकारी के रूप में ही हुआ है। उनका पहला

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रश्न मेरे सम्पूर्ण चिन्तन के सन्दर्भ में इस लेख के प्रतिपाद्य को लेकर ही है। उनके अनुसार इस लेख में मैंने मानव-हृदय की बात ऐसे की है मानो वह वैसा ही परमार्थ सत् हो जैसा दर्शन का विचार्य परमार्थ सत् होता है। वे कहते हैं, "यहाँ एक प्रश्न जागता है : क्या यहाँ दृष्टि कुछ वैसे मानवतावाद की ओर झुकती नहीं दीखती? ऐसे मानवतावाद की ओर जहाँ मानव अपने-आप में एक पूर्ण, स्वयंप्रतिष्ठ सत्ता-सी पाने लगता है?" नहीं, मनुष्य को मैं स्वयंप्रतिष्ठ नहीं मानता हूँ। यह मैंने **सत्ताविषयक अन्वीक्षा** पुस्तक में स्पष्ट रूप से कहा है (द्रष्टव्य पृ. 173)। यों यह मुकुंद जी ने स्वयं भी कहा है। यहाँ भी मनुष्य को जिस रूप में देखा गया है—दुःख, अभाव, क्लेश से पीड़ित—ऐसा मनुष्य स्वयंप्रतिष्ठ कैसे हो सकता है? किन्तु इसी पीड़ा और क्लेश का, अपने अस्तित्व में ही निहित अपने अभाव का अपना भी कोई अर्थ-संभार हो सकता है, यह काव्य ही दिखा सकता है, दर्शन या ज्ञान की कोई दूसरी विधा नहीं, यह मैंने कहा है। दर्शन दुःख की बात कर सकता है—**साँख्यकारिका** त्रिविध दुःख की और उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति की बात करती है और बुद्ध दुःख-समुदय और उसके कारण की बात करते हैं। किन्तु भोगे गए दुःख की आत्मकथा वे नहीं कहते। काव्य इसी की कथा कहता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि यह भोगा गया दुःख कोई स्वयंप्रतिष्ठ सत् है, या स्वयं में मूल्य भी है, मैंने अपने चिद्‌विषयक विवेचन में इसे चिद्‌गत असत् का द्योतक ही कहा है, किन्तु इस असत् की अपनी माया का पसारा कैसा है उसका प्रत्यक्ष, उसकी अर्थ-रचना, उसका अर्थावगाहन उसका अपना मूल्य है। यह मूल्य क्या है? वास्तव में *सब अर्थ और उनके मूल्य चेतना में उसके देखने से ही आविर्भूत होते हैं।* व्याध द्वारा चकवी का वध होने पर चकवा दुःखी हुआ ही होगा। पशु-पक्षियों में कभी-कभी यह दुःख इतना असह्य होता है कि इस से वे मर तक जाते हैं। किन्तु इस दुःख में अर्थलोक का आविर्भाव तभी होता है जब चेतना उस *होने को देख* पाती है : जब कालिदास अज में पैठकर दमयन्ती के विरह के उत्ताप को *देखते* हैं। **गीता** जब कहती है "सुख-दुःखे समे कृत्वा, लाभालाभौ जयाजयौ" तो वह ठीक ही कहती है, किन्तु इस सुख-दुःख में भी अर्थों का एक पारावार अन्तर्गर्भ हो सकता है, यह कालिदासों की दृष्टियाँ ही देख पाती हैं। अर्थों का यह उन्मेष मानो ब्राह्म चैतन्य में गुहागत सत् और आनन्द के ईश्वर के माध्यम से जगद्-रचना द्वारा सत्यापन के अनुरूप होता है। दर्शन इस ईश्वरीय सत्यापन पर विमर्श के मार्ग से उसके गुहागत मूल का साक्षात्कार करने का प्रयत्न करता है और कवि ईश्वर के अनुरूप चित्त-गुहागत सदसत् : असद्-व्यवहित सत् : और दुःख के सत्यापन का प्रयत्न करता है। अब, स्वयंप्रतिष्ठ तो ईश्वर भी नहीं है, उसे भी माया का आश्रय लेना पड़ता है, मनुष्य की तो फिर बिसात ही क्या है, जो स्वयं ईश्वर में प्रतिष्ठित है और आत्मविस्मृत होने से आनन्दमय के बजाय दुःखमय है।[1] वह स्वरूपतः आत्म-वियुक्त, अपने आनन्द-गेह से प्रवासित, आत्मविरही है, अपने अस्तित्व में आगन्तुक

1. यहाँ वैदान्तिक 'ब्राह्म चैतन्य' और 'ईश्वर' पदों का प्रयोग उत्प्रेक्षा रूप में ही किया गया है, वेदांत के अनुरूप नहीं किया गया है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अलग है, तब वह स्वयंप्रतिष्ठ कैसे होगा? यों यह कथा जीवमात्र की ही है, किन्तु मनुष्य की मुसीबत यह है कि उसे इस आत्म-प्रवास या आत्म-वियोग का किंचित् आभास भी रहता है। इसे समझने के लिए ब्रह्म और जगद्विवर्त की औपनिषद कल्पना का सहारा लेना उपयोगी होगा। उसके अनुसार मोक्ष परम पुरुषार्थ है, श्वेतकेतु का स्वरूप ब्रह्म है, श्वेतकेतु-रूप मिथ्या है। किन्तु कल्पना करें कि यदि जगत् होता ही नहीं तो क्या होता? हम कहेंगे कि तब ब्रह्म आत्म-अचरितार्थ रहता। ब्रह्म के अपने अर्थ-वैभव के होने के लिए जगन्माया का होना आवश्यक है। 'एक' ने 'बहु' होने की 'इच्छा' इसीलिए की। यह नहीं होता तो मोक्ष-पुरुषार्थ भी नहीं होता। सो, इस अर्थ-वैभव के आविर्भाव के लिए ब्रह्म में आत्म-व्यवधान का उत्पन्न होना, उसका अपने आनन्द-गेह से आत्म-प्रवास आवश्यक है।

मुकुंद जी का दूसरा प्रश्न है, "क्या हम यह नहीं कह सकते कि साहित्य मनुष्य को उसकी दैनंदिन मनुष्यता से ही बाँध कर रख देता है? उसे ही सार्थक, अपने आपमें साध्य-पुरुषार्थ कर देता है?" यह प्रश्न मुकुंद जी ने मेरे इस प्रतिपादन के सन्दर्भ में उठाया है कि "मनुष्य का मूल धर्म ही यह है कि इसका कोई स्थिर धर्म नहीं है।" नहीं, ऐसा मेरे किसी प्रतिपादन से आपादित नहीं होता। कवि (कहानीकार, उपन्यासकार सहित) कभी यथाभूत, यथास्थित को प्रस्तुत नहीं करता, वह यथाभाव्य, यथाएष्य को ही प्रस्तुत करता है। यदि उसकी रचना में ऐसा अभिधेय रूप से प्रस्तुत नहीं हो तो व्यंग्य रूप में प्रस्तुत होता है। यदि मुकुंद जी का आशय यहाँ यह है कि मेरे अनुसार काव्य का विषय सामान्यतः मनुष्य का लोक-जीवन, दैनंदिन का व्यवहार, ही होता है तो यह अधिकांशतः सही है, मैंने यही कहा है, किन्तु काव्य की साधना इस लोक के मर्म का अवगाहन कर उसमें निहित अर्थों के मणि-माणिक्यों को प्रकाश में लाने में है। ईश्वर इस व्यवहार-लोक की ही सृष्टि करता है, इससे वह छोटा नहीं होता, ऐसे ही कवि छोटा नहीं होता।

मुकुंद जी आगे कहते हैं, "सौन्दर्य की बात हो तो रस की बात भी हो सकती है। रस को सौन्दर्य के भाव-पक्ष के रूप में देखा जा सकता है।" मैं यह स्वीकार करता हूँ। लेख में रस-सिद्धान्त का अस्वीकार मैंने काव्य को इससे परिभाषित करने के अर्थ में (वाक्यं रसात्मकं काव्यम्) और रस को मनोवैज्ञानिक रूप में लेने के कारण किया है। अभिनवगुप्त की स्वयं की जो दृष्टि है उस अर्थ में नहीं, यद्यपि उसमें भी उनकी 'संवित् विश्रान्ति' आदि प्रत्यभिज्ञा दर्शन की पदावली मुझे उपयुक्त नहीं लगती।

आगे मुकुंद जी ने प्रश्न उठाया है, "...साहित्य में शिव-सुन्दर का एकात्म-भाव देखा जा सकता है, पर दूसरी कलाओं में? और प्रकृति के प्रति सौन्दर्य बोध में?" साहित्य के समान ही दूसरी कलाओं में भी शिवत्व का भाव, और सौन्दर्य का भाव भी, वास्तव में भाव के गुण रूप में रहता है। उदाहरणतः कबीर या तुलसी के भजन आप पॉप संगीत-रचना में, या गुरु ग्रंथ साहिब के पद दिलेर मेहंदी के संगीत में नहीं गा सकते, गाएंगे तो विसंगति होगी। या, यदि इन संगीतों में गाना चाहें ही तो इन संगीत-रचनाओं को अपने को दूसरी ओर बहुत अधिक झुकाना होगा। इस पर आपत्ति हो सकती है कि "तब पॉप या दिलेर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मेहंदी के संगीत में भी, उनके संगीत होने से, शिवत्व होना चाहिए।" इसका उत्तर है कि शिवत्व की अपेक्षा होती है, जिसकी पूर्त्ति हो यह आवश्यक नहीं होता।

सरला जी ने पहले मेरे लेख का सारांश प्रस्तुत किया है और उसके बाद उसके सम्बन्ध में प्रश्न उठाये हैं। सारांश साधारणतः ठीक ही है। उनका पहला प्रश्न लेख के अन्तरंग से सम्बन्धित नहीं है, वह बाहर से उठाया गया है। इसलिए इसे प्रश्न नहीं कहकर आपत्ति ही कहना चाहिए। आपत्ति है कि मैंने काव्य के निरूप्य पद पर ही विचार कियां है, उसके निरूपण पक्ष पर, रूप-पक्ष पर, कुछ विचार नहीं किया है। अर्थात् कविता को कहानी से, कहानी को उपन्यास से उनके कौन से रचनात्मक वैशिष्ट्य पृथक् करते हैं? कौन सा रचनात्मक वैशिष्ट्य इन तीनों को साहित्य रूप में परिभाषित करता है और इन्हें संगीत कला और चित्रकला आदि से पृथक् करता है, इस पर विचार नहीं किया है। इसका उत्तर यह होगा कि यह विचार कलाशास्त्र के अन्तर्गत आता है, काव्य-विषयक दार्शनिक चिन्तन के अन्तर्गत नहीं आता। दूसरे, एक लेख अधिकांशतः एक पक्ष विशेष को लेकर ही चलता है, और ऐसा ही वह कर सकता है, विषय के सभी पक्षों पर विचार एक पुस्तक में होता है, यद्यपि वहाँ भी ऐसा हो यह आवश्यक नहीं होता। उदाहरणतः साहित्यशास्त्र की पुस्तक में साहित्य के अन्य कलाओं से भेदाभेद पर और दर्शन तथा राजनीति शास्त्र से भेद पर विचार हो, यह आवश्यक नहीं है।

सरला जी ने दूसरा प्रश्न साहित्य की सौन्दर्यपरकता के सम्बन्ध में उठाया है। उनकी आपत्ति है कि मैंने **मूल्यतत्त्व-मीमांसा** पुस्तक के कला विषयक अध्यायों में कला का अन्वेष्य सौन्दर्य के विपरीत सत्य को कहा था। उनकी यह आपत्ति सही है। इसका उत्तर देने के लिए कुछ विस्तृत विचार की आवश्यकता थी इसलिए मैंने इस पर पृथक् लेख में ही विचार किया है, जो इस अंक में संकलित है।

सरला जी ने काव्य में सौन्दर्य की बात करते हुए उसके रूप-पक्ष और वस्तु-पक्ष (जिसे उन्होंने कथ्य कहा है) दोनों के सौन्दर्य की बात की है और दोनों पक्षों को काव्य के उत्कर्ष का विधायक कहा है। इसके सम्बन्ध में मैंने 'साहित्य का स्वरूप' लेख में कुछ विचार किया है।[2] यहाँ मुझे इतना ही कहना है कि वैदग्ध्य (साहित्य का रूप-पक्ष) किसी कृति को तभी महान बनाता है यदि वह महत् वस्तु का व्यंजक हो, वह स्वयं में परिसमाप्त होकर, या कहें स्वयं-पर्याप्त बनकर कृति को महत् नहीं बनाता। उस लेख में मैंने 'आलम और सुजान के दोहे—कनक छरी सी कामिनी, काहे को कटि छीन। कटि को कंचन काटि विधि, कुचन मध्य धरि दीन' का एक ओर और मीरा के पदों का दूसरी ओर उदाहरण

---

2. द्रष्टव्य भारत भवन, भोपाल की पत्रिका **पूर्वग्रह** का अंक सं. 104, तथा यशदेव शल्य **संस्कृति : मानव-कर्तृत्व की व्याख्या**, द्वितीय संस्करण, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1997, पृ. 123-28

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लिया है। अब, मीरा के पदों में रूप-पक्ष प्रायः अनगढ़ ही है, किन्तु उसकी वस्तु शिवत्व और सत्य से महिम सौन्दर्य में अत्यन्त उच्च कोटि की है। इसके विपरीत कालिदास या तुलसीदास, रवीन्द्र या अज्ञेय में रूप वस्तु की समृद्धि का समृद्ध व्यंजक है। किन्तु उस 'रूप' को 'सुन्दर' कहने का कोई विशेष अर्थ नहीं है, उसे व्यंजकता में प्रकृष्ट कहना ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

आगे सरला जी ने आपत्ति की है कि मैंने इस लेख में कला में भाव को व्यावर्त्तक नहीं माना है जबकि 'कला का अन्वेष्य' अध्यायों में भावित सत्य को ही कला का अन्वेष्य माना है। किन्तु यह सही नहीं है, मैंने वहाँ भी वास्तव में 'विषयिता प्रत्यय के अवगाहन' को ही कला का अन्वेष्य कहा है और इस लेख में भी यही कहा है, वहाँ 'भावना का आत्म-निरूपण' पद इसी अर्थ में प्रयुक्त है। तब भी, यह कहा जा सकता है कि उन अध्यायों में मेरा ध्यान विचार-पक्ष की ओर नहीं गया। किन्तु ऊपर उल्लिखित 'साहित्य का स्वरूप' लेख में मैंने विचार की बात इसी प्रकार की है जिस प्रकार इस लेख में की है। और फिर इस लेख में भी भावना को एक अनिवार्य घटक स्वीकार किया ही है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उन्मीलन-गोष्ठी 2

विषय : उन्मीलन के जनवरी, 1999 अंक में प्रकाशित डॉ. मुकुंद लाठ का 'धर्म और नीति' शीर्षक लेख।

यह गोष्ठी 12 फरवरी, 2000 को प्रोफेसर दयाकृष्ण के घर पर हुई। इसमें चर्चा का विषय डॉ॰ मुकुन्द लाठ का लेख 'धर्म और नीति' था। गोष्ठी में मेरे अतिरिक्त प्रोफेसर दयाकृष्ण, डॉ॰ मुकुन्द लाठ, डॉ. के. एल. शर्मा, श्री यशदेव शल्य, डॉ॰ योगेश गुप्ता, डॉ॰ अंजु ढड्ढा तथा श्री पंकज बासोतिया ने भाग लिया। चर्चा का आरम्भ लेख पर शल्य जी की टिप्पणी के साथ हुआ जो नीचे दी जा रही है। इसके अतिरिक्त मेरी टिप्पणी तथा मुकुन्द जी द्वारा चर्चा के उत्तर में अपने विचार का विशदीकरण भी दिया जा रहा है।

सरला कल्ला

सरला कल्ला

मुकुन्दजी के लेख 'धर्म और नीति : मानव-कर्म के दो आयाम : विरोध या विरोधाभास' के शीर्षक से ही चर्चा आरम्भ करती हूँ। इस लम्बे शीर्षक के बाद भी मुकुंद जी को लगा है कि उनके लेख को 'औचित्यविचार-चर्चा' यह उपशीर्षक दिया जा सकता है। दो अंकों में असमाप्त इस लेख को हम और भी सार्थक उपशीर्षक दे सकते हैं 'कर्म का स्वरूप-विवेचन तथा भोक्तृत्व विमर्श'। बात नाम की नहीं है। धर्म और नीति विषय पर लिखे गये लेख से दोनों के बीच के सम्बन्ध-निरूपण की अपेक्षा जागती है। मुकुन्द ज़ी अभी इस पर पहुँचे ही नहीं हैं। वैसे किसी असमाप्त लेख पर कुछ कहने की अपनी कठिनाइयाँ हैं। सहूलियत भी है कि विचार को अपनी दिशा में बढ़ाया जा सकता है और यही, यदि उनकी विचार-योजना के अनुरूप कहूँ, उनके लेख का औचित्य भी है। 'औचित्य' शब्द का सार्थक रूप से व्यापकतर प्रयोग हो सकता है, ठीक इसी बात की प्रस्तावना उनके लेख का आरम्भ-बिन्दु है। लेख आगे 'कर्म' शब्द के अर्थ व प्रयोग के विस्तार का प्रस्ताव करता है जो लगभग उनका केन्द्रीय बिन्दु जान पड़ता है, क्योंकि वे बार बार उस पर लौटते हैं। विषय का प्रवर्तन करते हुए अपनी बात का आधार वे शल्यजी की इस दृष्टि में पाते हैं कि 'नैतिकता आत्म-चेतना का स्वतंत्र व्यापार है।' इस चेतना में ही औचित्य का उन्मेष निहित है। औचित्य का निकष मनुष्य की आत्मा की अपने से अनुकूलता है। शल्यजी की बात आगे बढ़ाते हुए मुकुन्दजी कहते हैं कि "यदि शल्यजी आत्मा की अपने से अनुकूलता की बात 'कर्म' में ही नहीं पुरुषार्थ मात्र में करते हैं तो औचित्य की बात 'कर्म' में ही नहीं 'ज्ञान' ' भाव' या 'अध्यात्म' में भी उठाई जा सकती है। औचित्य की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बात एक तरह से प्रमाण की या खरेपन की बात है और यह बात पुरुषार्थ के अन्य क्षेत्रों में भी की जा सकती है, जबकि शल्यजी उचित-अनुचित के प्रत्यय को नैतिकता से ही जोड़ते हैं।"

अब यह बात या तो शाब्दिक, भाषायी स्तर पर हो रही है या कहीं उससे गहनतर है। कई बार हम किसी पद-प्रयोग का विस्तार या संकोच इस दृष्टि से करते हैं कि इससे यथार्थ की पकड़ अधिक सटीक बनती है, परन्तु इस लेख में ऐसा होना कम से कम मुझे स्पष्ट नहीं हो सका। अब यदि बात भाषायी है तो मुझे लगता है कि 'औचित्य' व 'उचित' दोनों शब्द ठीक एकार्थक नहीं जान पड़ते। "मेरे इस विचार का औचित्य क्या है" और 'क्या मेरा विचार उचित है?' ये दो भिन्न प्रश्न जान पड़ते हैं। पहला प्रश्न ठीक ही वही प्रश्न हो सकता है जिसे मुकुन्दजी युक्तता, संगतता या प्रमाण का प्रश्न कहते हैं। यहाँ किसी विचार की तर्कसम्मतता, उसके आधार का प्रश्न उठाया जा रहा है जबकि दूसरा प्रश्न सीधे से इसे नैतिक संदर्भ से जोड़ता है। जब हम यह पूछ रहे होते हैं कि मेरा अमुक विचार नैतिक दृष्टि से ग़लत तो नहीं है? ठीक तो है? 'उचित' शब्द के प्रयोग को शल्यजी ने, और दूसरे अनेक विचारकों ने भी, 'नैतिकता' तक सीमित किया है तो वह ठीक ही है। वैसे मनुष्य के सृजन के सभी आयाम ही नहीं बल्कि सामाजिक व्यवहार भी युक्तता, आंतरिक संगति की अपेक्षा रखते हैं। यही बात करना औचित्य की बात करना है तो यह मानवीयता के सभी दायरों में की जा सकती है।

वैसे 'उचित' 'अनुचित' पद नैतिकता के पूरे दायरे को नहीं समेटते, चाहे उसे धर्म और नीति दोनों से जोड़ा जाय, जिसे लेखक साध्य व साधन के औचित्य के रूप में भी देखते हैं। 'श्रेयस्कर' 'अश्रेयस्कर' इससे भी व्यापक हैं जिस पर मुकुन्द जी ने स्वयं पहले कभी धर्म-संकट के प्रश्न पर विचार करते हुए लिखा है। किन्तु प्रस्तुत लेख ऐसे किसी विषय की ओर नहीं बढ़ते हुए 'कर्म' के प्रत्यय की चर्चा पर आ जाता है। धर्म और नीति ये कर्म के लक्षण हैं। मुकुन्दजी सुझाते हैं कि 'कर्म' शब्द इससे कहीं व्यापक है, वह धर्म और नीति मात्र की परिधि में नहीं समाता। "हम 'विचार-कर्म', 'कवि-कर्म', 'नृत्य-कर्म' में 'कर्म' शब्द के प्रयोग सार्थक भाव से करते हैं और इनमें धर्म और नीति का प्रश्न उठता ही नहीं दीखता।" देखने की बात यह है कि इन कर्मों में भी औचित्य की बात इनके अर्थ के केन्द्र में है और यह भी कि 'साध्य और औचित्य की बात हम कर्म की तरह विचार में भी कर सकते हैं और यों विचार-कर्म यह भाषा का सार्थक प्रयोग ठहरता है। जहाँ औचित्य की बात उठे, साध्य की बात उठे उसे कर्म कहा जा सकता है"। यह कोई युक्ति नहीं जान पड़ती। मनुष्य के सभी प्रयत्न, और प्रयत्न होंगे तो सोद्देश्य होंगे, उनके साध्य होंगे, यह ठीक है, किन्तु वे सभी 'कर्म' हैं ऐसा कहने से सधता भी क्या है? जहाँ तक मैं मुकुन्द जी का मंतव्य समझ सकी हूँ उनका कर्म का स्वरूप-विवेचन स्वयं ही 'विचार' को या 'कला' को कर्म कहने में बाधा देगा। वे लिखते हैं कि "कर्म एक ओर तो किसी अंतरंग बोध से, संकल्प-विवेक से, औचित्य बोध, औचित्य विमर्श से सम्बन्ध

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

रखता है तो दूसरी ओर अपने निष्पादन में क्रिया से, जो कर्मेन्द्रियों से संभव हो पाती है—इस बाह्यता से भी जुड़ा हुआ है। कर्म हम अपने से बाहर अपने से भिन्न किसी के प्रति करते हैं। बल्कि कर्म और उसके औचित्य-बोध में अन्य की चेतना अविनाभावे निहित है। अब विचार का और कविता का संकल्प से, कर्मेन्द्रियों से क्या सम्बन्ध है और उनमें अन्य की चेतना किस रूप में संश्लिष्ट है?

धर्म और नीति के बारे में वे लिखते हैं कि "कर्म का औचित्य धर्म है, नीति उसके विरुद्ध जाती है। पर धर्म में नीति को समोये बिना कर्म का स्वरूप ही बनता नहीं दिखता।" उनके शब्दों में इसे "कर्म की उलटबाँसी कहा जा सकता है जो धर्म और नीति के भेद-अभेद में बसी है। उलटबाँसी विचार के लिए प्रश्न जगाती है और वहाँ उत्तर की अपेक्षा नहीं होती, यही देखना होता है कि विचार में गहराई कितनी है।" धर्म और नीति के भेद-अभेद पर अभी लेखक को कुछ और कहना बाकी है। इसलिए इस पर कुछ नहीं कहते हुए इस टिप्पणी के साथ बात समाप्त करना चाहती हूँ कि वैचारिक कोटियों की अपनी सीमा होती है। दार्शनिक विचार सीमान्त पर उस ओर भी इंगित करता है जहाँ उसका अपना प्रवेश नहीं है, उलटबाँसियों की भाषा वहीं सार्थक होती है। किन्तु दार्शनिक विमर्श का अपना क्षेत्र भी काफी विस्तृत है जहाँ अधिक सरलता से बात कहने से विचार-विमर्श में सुविधा होती है।

यशदेव शल्य

मुकुन्द जी के इस लेख का कथित उद्देश्य 'धर्म' और 'नीति' में भेद करना और धर्म में नीति के सन्निवेश या धर्म के लिए नीति के उपयोग पर विचार करना है। यह एक महत्त्वपूर्ण विचार-विषय है। किन्तु मुकुन्द जी ने वास्तव में इस लेख में मुख्य रूप से 'औचित्य' पद के प्रयोग पर विचार किया है। इस संदर्भ में उन्होंने 'कर्म' के स्वरूप पर भी थोड़ा विचार किया है यद्यपि इस लेख में वे इसकी गहराई में अधिक नहीं उतरे। इसका कारण शायद यह हो कि 'धर्म-संकट' लेख-माला में उन्होंने कर्म के स्वरूप पर विस्तार से विचार किया है। अब, 'औचित्य' पद के सम्बन्ध में उनका क्या अभिमत है? इस विचार का आरम्भ उन्होंने मेरे द्वारा इस पद के प्रयोग को धर्म तक परिसीमित करने को अस्वीकार करते हुए किया है। किन्तु उनके संपूर्ण लेख को पढ़कर यही प्रतीत होता है कि इस पद के प्रयोग का मुख्य संदर्भ वे भी धर्म ही को मानते हैं। उदाहरणतः पहले वे कहते हैं कि "औचित्य की बात हम पुरुषार्थ के अन्य क्षेत्रों में भी करते हैं—नहीं भी करते हों तो सार्थक भाव से कर सकते हैं। किसी भी क्षेत्र में औचित्य की बात वैसी ही है जैसे प्रमाण की बात, खरेपन की बात। पर हाँ, प्रश्न उठ सकता है कि क्षेत्र-भेद के साथ क्या 'औचित्य' के स्वरूप में भी भेद होता है कि नहीं? होता है तो क्या?" इसी प्रकार आगे—"विचार का अपना औचित्य होता है जो युक्त-अयुक्त, संगत-असंगत जैसी धारणाओं में व्यक्त होता है।" किन्तु आगे वे कहते है कि—"कर्म कुछ साधता है, जिसे साधता है—कर्म का साध्य—उसके औचित्य की कसौटी—या औचित्य का आधार-तत्त्व कहिये—उसी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

को धर्म कहते हैं। कर्म का औचित्य धर्म है, नीति उसके विरुद्ध जाती है।" "अगर इच्छा जैसी अन्तर की वृत्ति को हम प्रत्यक्ष कह सकते हैं तो धर्म-बोध जैसे अन्य बोधों को क्यों नहीं, जहाँ औचित्य की बात बोध की आत्मा ही होती है।"

यहाँ उल्लेखनीय है कि भाषा में शब्दों के प्रयोग कभी एकार्थारूढ़ नहीं होते, उनका प्रयोग एक अर्थ को केन्द्र में रखकर, जिसे मुकुन्दजी ने प्रयोग की 'आत्मा' कहा है, उससे इधर-उधर के निकटवर्ती क्षेत्रों में भी अपना विस्तार करता रहता है। जैसे 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग रूप से लेकर बात, विचार आदि तक के साथ होता है, 'सौन्दर्य शास्त्र' में इसका अर्थ 'रूप-सौंदर्य' में इसके अर्थ से और भी दूर चला जाता है, किन्तु इस शब्द के प्रयोग का केन्द्र रूप के विशेषण के रूप में ही है। इस प्रकार 'विचार का औचित्य सत्य-शोध में है' ऐसा मुकुन्द जी के साथ कहा जा सकता है, किन्तु इस शब्द के 'प्रयोग की आत्मा' धर्म के अन्तर्गत ही है, यह भी कहा जा सकता है।

किन्तु वास्तव में 'कवि-कर्म' 'विचार-कर्म' आदि में यह विचारणीय है कि क्या इनमें 'कर्म' धर्म से असम्बद्ध है? मुकुन्दजी ने 'कर्म' का 'क्रिया' से भेद किया है और ठीक ही किया है। किन्तु द्रष्टव्य है कि **गीता** के "कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैः गुणैः" में 'कर्म' शब्द का प्रयोग 'क्रिया' के अर्थ में ही किया जा रहा है जो 'अवशः' से स्पष्ट है। यों कर्म और क्रिया में भेद भी कोई अन्तराल-रहित नहीं है, इनके बीच अनेक सोपान होते हैं। लिखने के लिए पैन उठाना, किसी से मिलने जाना से नित्य कर्मों के सोपानों से होते हुए सामाजिक कर्त्तव्य-निर्वाह से योग-साधना तक सब कर्म हैं, किन्तु इनमें कर्मता का न्यूनाधिक्य है। **गीता** ने योग को कर्मता की पराकाष्ठा कहा हैं—कर्मसुकौशलम्—और ठीक ही कहा है, क्योंकि यदि क्रिया को कर्म चेतना की आत्म-चेतनता बनाती है तो योग में चेतना की यह आत्मचेतनता ही परमसाध्य होती है। अब, कविता और विचार में भी कर्म का यह न्यूनाधिक्य होता है और इस न्यूनाधिक्य का निर्धारण योग को सोपानान्त या प्रमाण मान कर ही होता है। कवि-कर्म कवि भी करता है और कवियशःप्रार्थी भी, और इनमें तारतम्य होता है, इसी प्रकार विचार में भी होता है। विचार व्यावहारिक लाभालाभ के लिए भी किया जाता है और सत्य-संधान के लिए भी, और धर्म से बड़ा संधेय सत्य दूसरा कौन-सा हो सकता है?

अब संक्षेप में 'नीति' शब्द के सम्बन्ध में। 'नीति' का मुख्य प्रयोग 'उपाय-कौशल' के अर्थ में होता है—किसी साध्य को पाने के कुशल साधन का प्रयोग नीति है। किन्तु 'नीति' शब्द का प्रयोग धर्म के अर्थ में भी किया जाता है। जैसे 'निन्दन्तु नीति-निपुणाः यदि वा स्तुवन्तु' में इसका प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। मुकुन्दजी ने ही बताया कि रहीम ने भी इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। किन्तु यह भी कहा जा सकता है कि मनुष्य के लिए सबसे प्रमुख साध्य तो धर्म ही है, वही सबसे बड़ा उपाय-कौशल भी है : 'ऑनेस्टी इज़ दि बैस्ट पॉलिसी' में यही कहा गया है। किन्तु इसे छोड़ते हुए भी, सामाजिक क्षेत्र में सदुद्देश्य की सिद्धि के लिए ऐसे उपायों का आश्रयण करना पड़ता है जो धर्माधर्म से पृथक् होते हैं। उदाहरण के लिए एक संस्था के संचालन के लिए अर्थ-प्रबन्धन का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कौशल अपेक्षित होता है। यहाँ द्रष्टव्य है कि यहाँ भी एक तारतम्य होता है: महात्मा गाँधी के लिए अर्थ-प्रबन्धन भी योग ही के अन्तर्गत था। कहते हैं एक बार आय-व्यय के हिसाब में एक पैसे का अन्तर आने पर उन्होंने काफी समय उस अंतर के निवारण में लगाया और दूसरों के इसे व्यर्थ कहने पर इसे इसीलिए स्वीकार नहीं किया कि इस ढील के घातक परिणाम बड़े भी हो सकते हैं। उनके द्वारा पेंसिल या क़ागज़ का छोटा टुकड़ा भी नहीं फेंकना आदि अर्थ-प्रबन्धन की व्यवहार-नीति को धर्म-नीति से अभिन्न रूप में देखने के ही उदाहरण कहे जा सकते हैं। योग वास्तव में यही है, जहां साधन और साध्य, उपाय-कौशल और उपेय एक हो जाते हैं और यह चेतना के निरन्तर असि-धारा पर रहने, निरन्तर आत्म-चेतन रहने पर ही संभव होता है।

अब संक्षेप में मुकुन्दजी के कर्म के स्वरूप-विवेचन के सम्बन्ध में। वे प्रश्न उठाते हैं कि "कर्म का बाह्य रूप उसके आन्तर रूप से कैसे सम्बद्ध है?" तब वे उत्तर देते हैं कि "कर्म हम अपने से बाहर, अपने से भिन्न और अन्य किसी के प्रति करते हैं। मुझे तो लगता है कि कर्म और उसके औचित्य-बोध में जो अपने से भिन्न और अन्य की चेतना संश्लिष्ट, बल्कि कहना चाहिए कि अविनाभावेन निहित है वही चेतना हमारे बाह्य बोध की भी प्राण है। वही हमें अपने से बाहर जगत् की ओर खींचकर ले जाती है।...पर कर्म में 'बाहर' और उस बाहर में बसने वाला दूसरा कोई, विशेषकर हम जैसा ही दूसरा कोई, भी है इसका बोध चेतना के केन्द्र में होता है। किन्तु यदि ऐसा है तो कविता और विचार को 'कर्म' कैसे कहेंगे? अवश्य विचार भी बाह्योल्लेखी होता है क्योंकि यह किसी विषय की ओर प्रवृत्त होता है, किन्तु वह तो आत्मचेतना मात्र में ही होता है, क्योंकि चेतना का आत्मचेतन होना उसका अपने को विषय रूप में प्रस्तुत करना है।" स्पष्टतः मुकुन्द जी का अभिप्राय यहाँ इस बाह्यता से नहीं है, देशात्मक बाह्यता से है जिसमें अन्य वस्तुएँ और उससे भी अधिक अन्य व्यक्ति अवस्थित होते हैं। यहाँ कर्म को वे 'धर्म' (नैतिक कर्म) के रूप में ही देख रहे हैं और नैतिक या धार्मिक कर्म को समाजपरक रूप में देख रहे हैं, यद्यपि ऐसा वे स्पष्टतः कहने से बच रहे हैं।

किन्तु कर्म के स्वरूप के सम्बन्ध में यह विचार सही नहीं कहा जा सकता। कर्म की प्रवृत्ति यथास्थित के अन्यथाकरण के उद्देश्य से होती है। किन्तु किसके अन्यथाकरण के लिए? अन्य के? किन्तु आत्मचेतना के लिए सबसे पहला अन्य तो आत्मगत अन्य ही होता है। आत्मगत अन्य को अपना विषय, अपना अन्य किये बिना चेतना आत्मचेतन नहीं होती। बाह्य विषय की बाह्यता उसके अनन्तर और उसके आधार पर ही प्रतिष्ठित होती है, किन्तु विषय की ओर अपनी यह अन्यता चेतना का अपने प्रेक्षक भाव को पाने का ही उपक्रम होता है। अनात्मचेतन चेतना वही होती है जो विषय से तदात्म रहती है। अब, मुकुन्दजी यह स्वीकार करते हैं कि केवल आत्मचेतन चेतना की क्रिया ही कर्म होती है। किन्तु यदि ऐसा है तो यह क्रिया अन्य के, अनात्म के, आत्मानुकूल अन्यथाकरण के लिए ही होनी चाहिए। बढ़ई लकड़ी से मेज़ बनाता है, यह बढ़ई-कर्म है, किन्तु इसमें वह निष्पादन क्या करता है? वह लक़ड़ी का और लोक का अन्यथाकरण निष्पादित करता है और इससे जो वह प्रतिफलित करने को लक्षित करता है वह लोक का, अनात्म का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आत्मानुकूलित अन्यथाकरण है। बढ़ईगीरी में जो आत्मानुकूलंन की क्रिया होती है वह कला में और अधिक प्रकृष्ट रूप में होती है। और धर्म में उससे अधिक। कर्म की बाह्योल्लेखिता का यही अर्थ है। यह आत्मा के बाह्यकरण के निमित्त से नहीं बाह्य के आत्मसात्करण के निमित्त से प्रवृत्त होना है। कर्म का अर्थ यह मानने पर ही कविता और विचार कर्म कहे जा सकेंगे और योग को सर्वोच्च कर्म कहा जा सकेगा। 'अन्यों के प्रति कर्त्तव्य' का तत्त्व अन्यों की अन्यता का परिहार है न कि अपने से बाहर जाना, अपने को अन्यता में खोना। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का वास्तविक अर्थ यही है। मुकुन्दजी ने काँट की अनुसारिता में जो 'दूसरे को भी अपने समान विषयी मानने' की बात कही है उसमें भी भेद में अभेद देखने का ही प्रस्ताव है, यह बात दूसरी है कि काँट व्यक्तिभेदपरक दृष्टि से मुक्त नहीं हो सकते थे। अधिकांश विचारक, और मुकुन्द जी उनमें से एक हैं, धर्म-नीति को समाज-सांदर्भिक मानते हैं और समाज को व्यक्तियों की पारस्परिकता के रूप में देखते हैं। यद्यपि मैं समाज-विषयक इस दृष्टि से सहमत नहीं हूँ किन्तु इस दृष्टि को स्वीकार करने पर भी धर्म-नीति का तत्त्व व्यक्तियों की पारस्परिकता और प्रत्येक व्यक्ति की इस पारस्परिकता के प्रति प्रतिबद्धता नहीं है, क्योंकि प्रतिबद्धता का एक आधार पुनः पारस्परिकता ही हो सकता है जैसाकि सट्टा व्यापारियों और डाकुओं में होता है। प्रतिबद्धता का एक दूसरा आधार 'प्रतिबद्धता-भाव' हो सकता है। इस भाव का मूल अन्य समाज में नहीं होता, इसका मूल स्वयं भाव में होता है।

मुकुन्द लाठ

'धर्म और नीति—मानव कर्म के दो आयाम : विरोध या विरोधाभास' इस नाम से जो लेख मैंने आरम्भ किया है उसकी पहली कड़ी (उन्मीलन, जनवरी 1999, वर्ष 13 अंक 1) पर शल्य जी और सरला कल्ला की टिप्पणी से कहूँगा उत्साह ही मिला है—चाहे आलोचना का ही स्वर मुखर हो। पहले सरला कल्ला की बात को लेता हूँ।

लेख अधूरा है, कहना न होगा, यह तो मान कर ही टिप्पणीकार भी चले हैं। पर अधूरा सही, बढ़ किधर रहा है? जिधर बढ़ रहा है क्या कुछ सार्थक उभरता लगता भी है? सरला जी की शिकायत है कि बात शब्द-प्रयोग और भाषा के ही स्तर का प्रपंच लगती है। यह ठीक है कि 'कर्म' और 'औचित्य' इन शब्दों को एक अर्थ-विस्तार देता हुआ मैं आगे चला हूँ। पर इसके पक्ष में पुराने प्रयोग का आधार भी दिया है। न भी देता तो मैं समझता हूँ कोई बड़ा दोष नहीं था। विचार के प्रयोजन विशेष के लिए हम नये शब्द गढ़ लें, या पुराने को व्यापकता दें, तो अनुचित नहीं है। हाँ, प्रयोजन ही अगर थोथा ठहरे तो बात और होगी। प्रयोजन की बात पर आता हूँ। पर एक शब्द-प्रयोग ही पहले लूँ। सरला जी 'उचित' और 'औचित्य' में भेद करना चाहती हैं। केवल इसी अर्थ में नहीं कि 'औचित्य', 'उचित' होने के भाव का सामान्य है—उचितत्व। 'औचित्य' और 'उचित' में गहरा प्रयोग-भेद और यों मूलगत तात्पर्य-भेद देखती हैं। उन्होंने दो प्रश्नों का उदाहरण लिया है—'मेरे इस विचार का औचित्य क्या?', और 'क्या मेरा विचार उचित है?' यहाँ 'औचित्य' का वे व्यापक अर्थ मानने को तैयार हैं : युक्तता, संगतता, प्रमाण, पर 'उचित'

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

को वे नैतिक सन्दर्भ या कर्म के औचित्य तक ही सीमित रखना चाहती हैं। अगर हम मान भी लें कि प्रयोग में यह भेद है, और दर्शन में उनके अनुसार इसका प्रमाण शल्य जी और अन्य दार्शनिकों का है (कौन हैं वे? शल्य जी का कहना है कि उन्होंने ऐसा कोई भेद नहीं किया।) तो भी यह भेद कृत्रिम, थोपा-हुआ-सा भेद नहीं लगता—अविचारित भेद जान पड़ता है। 'औचित्य' अगर 'उचित का भाव', तो एक को सीमित रखना, दूसरे को व्यापक, यह भेद ज़बरदस्ती बनाये रखना पड़ेगा। अगर प्रयोग की असंगति ध्यान में आये तो सवाल उठेगा, क्या यह भेद उचित है? और क्या बात ठीक भी है? अभी अभी जो मैंने 'उचित' का प्रयोग किया, क्या वह भूल है या भ्रान्ति है? या 'अनुचित' है? है तो ऐसा कहने का औचित्य क्या? किसी प्रथागत प्रयोग को औचित्य का आधार ठहराना काफी होगा, जब कि शल्य जी के प्रयोग की बात मैं ने की ही है, और अपने प्रयोग को जानबूझ कर आर्थी व्यापकता दी है। मैं नहीं समझता कि प्रयोग के साथ यह मनमानी है। **औचित्यविचारचर्चा** क्षेमेन्द्र का पुराना और प्रसिद्ध ग्रन्थ है जहाँ क्षेमेन्द्र औचित्य को साहित्य के आधारभूत तत्त्व के रूप में देखते हैं। मैंने अपने लेख को जब 'औचित्यविचार-चर्चा' यह वैकल्पिक शीर्षक दिया था तब क्षेमेन्द्र का ग्रन्थ मन में था। ग्रन्थ प्रसिद्ध है इसलिए नाम नहीं लिया, यह सोच कर कि संकेत ही बहुत है, पाठक भाँप लेंगे। शायद मुझे समझना चाहिये था कि आज के कई पाठकों का संस्कृत से सम्बन्ध नहीं है (अगर भाग्य से पाठक हों भी तो) क्षेमेन्द्र के लिए औचित्य का अर्थ युक्तता और संगति ही है, पर क्षेत्र कव्य का है—रस का—नैतिकता का नहीं। साहित्य में वे नैतिक औचित्य की भी बात करते हैं, पर रस के ही सम्बन्ध में कहते हैं कि कथा नायक अनैतिक हो तो रस-विशेष में यह बात 'विघ्न' हो सकती है—दूसरे शब्दों में अनुचित या औचित्य-हीन। जैसे करुणा जगाना हो तो नायक चरित्रहीन नहीं होना चाहिये, उस से रस-निष्पन्न नहीं होगा। करुण ही नहीं शृंगार के बारे में भी ऐसी बात कही जा सकती है। शृंगार जगाना हो तो रावण को नायक और सीता को नायिका बनाने से औचित्यभंग होगा और रस-भंग। शायद मुझे चाहिये था कि क्षेमेन्द्र के प्रयोग की चर्चा अपने लेख में करता। पर यह चूक मुझे दोष लग नहीं रही, जबकि अपने प्रयोग को खोल कर सामने रख ही दिया है। यहाँ जो बात मैं 'औचित्य' के लिए कह रहा हूँ वही कर्म के लिए भी कही जा सकती है। वहाँ भी अर्थ को विस्तार देने का आश्रय मैंने प्रयोग को ही बनाया है।

पर कहना न होगा कि प्रयोग को भाषा की दृष्टि से उचित ठहराने भर से मेरी सफाई पूरी नहीं हो जाती। इतने ही से मैं भाषा तक सीमित रहने के आरोप से छूट जाने का दावा नहीं कर सकता। विचार कर रहा हूँ तो प्रयोजन में कोई विचारनिष्ठ औचित्य होना चाहिये। विचार की अपनी कोई सार्थकता। यों प्रयोजन भी कुछ खोला है, पर उधर सरला जी का ध्यान गया नहीं लगता। शायद दोष मेरा ही हो—मैंने बात दूसरी और बातें करते हुए इस तरह से कही है कि उस सुर्खी के साथ नहीं उभारी गई है जैसा कि उभारना उचित था। उस बात पर आने से पहले एक बात और कहना चाहता हूँ। कर्म और धर्म पर मैं एक लेख पहले भी लिख चुका हूँ। **उन्मीलन** में ही छपा था और पत्रिका के कुछ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पाठक शायद उस से कुछ परिचित हों भी। अब दुबारा जब कर्म पर कुछ सोचने लगा तो कही हुई बात के ही रास्ते जाने पर मन नहीं हुआ। इसीलिए कहने में कुछ लड़खड़ाहट है। पहले लेख में शायद और भी प्रकट है। सरला जी ने चर्चा में यह बात कही भी थी। शीर्षक का सम्बन्ध पिछले लेख से ही बनता दिखता है : धर्म और नीति का विरोध धर्म में संकट की ओर ही संकेत करता है। मैं आगे के विचार में धर्म में निहित एक ऐसे मौलिक विरोध की चर्चा करना चाहता हूँ जों पहले लेख में आया भी होगा तो सरसरी ही आया होगा। नीति का सम्बन्ध साधन से है। और धर्म का कर्म के साध्य होने से। अपने आप में साध्य होने—स्वयंसाध्य या अपने ही तन्त्र में साध्य : स्वतन्त्रसाध्य। स्वरूप से कर्म ऐसा लगता भी है—हमारी चेतना में जो स्वातन्त्र्य का बीज है वहीं कर्म के भी स्वयंसाध्य होने की, अपने ही तन्त्र में रह सकने की, सम्भावना रूप लेती है। और हमारी चेतना का व्यावर्तक धर्म आत्मचेतनता ही है। पर कर्म का क्षेत्र आत्मचेतनता मात्र नहीं है। शायद हो सकता था क्योंकि इस कल्पना में कोई स्वतोविरोध नहीं है। पर पाते हम यह हैं कि जिस क्षेत्र में हम कर्म करते हैं वह अस्वातन्त्र्य का है। उसका अपना तन्त्र है जो कार्य-कारण भाव का है। यह नहीं कहूँगा कि केवल कार्य-कारण भाव का ही है, क्योंकि हमारा कर्म तो अधिकतर मनुष्य के जगत् में होता है और मनुष्य का जगत् कार्य-कारण भाव और दूसरे भावों का विचित्र संगम है—एक गहरा परस्पर भाव तो दिखता ही है, जिस को मनुष्य और मनुष्य के बीच बनता सदा असम्पूर्ण-सा अवयव-अवयवी भाव भी शायद कह सकते हैं, पर कार्य-कारण भाव नहीं। इसे भी बनाये रखना पड़ता है—इसे निष्पन्न करना होता है, यह सिद्ध होता हुआ भी साध्य है, और हमारा बहुत सा कर्म तो इसी को बनाने (और बिगाड़ने) में लगा रहता है। पर कर्म के क्षेत्र को हम जैसे भी समझें, चेतना वहाँ निष्पादक होने में समर्थ होती है, नहीं तो कर्म का प्रश्न ही नहीं उठता। क्रिया मात्र ही होती, जैसा कुछ विज्ञाननिष्ठ दर्शन कहना ही चाहते हैं। या फिर एक ओर आत्मचेतना के स्वातन्त्र्य के गर्भ में कर्म की सम्भावना पलती होती और दूसरी ओर कर्म का क्षेत्र, जहाँ हम विवश होते हैं और कुछ निष्पन्न ही नहीं कर पाते—कुछ भी कर ही नहीं पाते। पर सच तो यह है कि हम निष्पादक होते हैं, क्रिया को (और दूसरे सम्बन्धों को) निष्पन्न कर सकते हैं। कर्म का क्षेत्र यों निष्पाद्य-निष्पादन भाव का क्षेत्र है। दूसरे शब्दों में साधना का क्षेत्र है। साधना उपाय चाहती है : निष्पादन-कौशल, जिसे मैंने नीति कहा है। नीति हमारे कर्म का अभिन्न अंग है। शल्य जी कर्म या 'नैतिकता' के क्षेत्र को धर्मनीति का क्षेत्र कहते ही हैं। अगर हम अकेले होते, एक ही मनुष्य होता जगत् में, तो क्या कर्म की बात उठती? अगर हम जैसे हैं वैसे अकेले ही होते, तो शल्य जी के विचार में आत्म की साधना, विवेक या औचित्य-बोध के साथ अपनी ही निर्मिति करते। यह कर्म तो होता ही, और इसमें कौशल की बात भी उठती। एक व्यापक अर्थ में नीति का यही अर्थ है—कौशल। एक दूसरे अर्थ में नीति का तात्पर्य धर्म या 'नैतिकता'-विरोधी होना भी ठहरता है। धर्म अगर चेतना के उदार, उदात्त परस्पर-भाव में स्थापित है तो नीति संकुचित अहं और स्वार्थ-भाव में। पर के साथ परस्पर-भाव से हट कर अपने या अपनों की स्वार्थ-सिद्धि के कौशल को नीति कहा गया है। **महाभारत** जैसे ग्रन्थों में नीति के इस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अर्थ पर विचार है, कहानियाँ हैं। मैंने **धर्म-संकट** लेख-माला में **महाभारत** की एक कहानी के माध्यम से चर्चा उठाई थी, जहाँ स्वार्थपरक नीति और औदार्य, परस्पर-भाव-परक आनृशंस्य-धर्म का वैषम्य दिखाया है। अब जो लिख रहा हूँ उसमें भी नीति के इस स्वरूप की चर्चा किसी रूप में आ ही जायेगी। पर यहाँ मेरा विशेष ध्यान नीति के कौशल अर्थ पर ही अधिक टिका है। कौशल कर्म के लिए आवश्यक है, पर कौशल कर्म के अन्तरंग को एक तात्त्विक-से विरोध में डाल देता है—विरोध अन्तरंग और बहिरंग का है : आत्मचेतना के स्वातन्त्र्य और कार्य-कारण भाव की परतन्त्रता का। यहाँ यह बात कह रहा हूँ तो एक प्रश्न और मन में आ रहा है : मैंने पारम्परिक विचार के आधार पर 'नीति' के दो अर्थ किये—स्वार्थपरता (परस्पर-भाव का विच्छेद, बल्कि कौशल के साथ उसका विनाश) और साधन मात्र, या प्रयत्न—निष्पादन—का साध्य के युक्त होना। प्रश्न हो सकता है कि क्या स्वातन्त्र्य की सहज-स्वयंभू सत्ता के साथ प्रयत्न-जैसे अपने-आप-से-बाहर-जाते तत्त्व का होना क्या स्वातन्त्र्य को भी स्थान-च्युत नहीं कर देता? 'स्व' की स्व-स्थिति को अपने स्थान से हटा कर छोटा-ओछा, 'स्वार्थी' नहीं कर देता? पर साफ ही यह प्रश्न यहाँ के लिए नहीं है। लेख में आगे किसी करवट उठे तो उठाऊँगा। पर लेख लिखते हुए 'सहज' का प्रश्न मेरे मन में ज़रूर है। प्रयत्न और निष्पादन या कौशल का सम्बन्ध 'सहज' से सदा रहा है। वास्तव कौशल ही यह है कि प्रयत्न की तनातनी से ऊपर उठ जाये। यह अर्थ कला में अधिक सहज-स्वीकृत है। लेख में आगे मैं कला की दृष्टि से कर्म की चर्चा करना चाहता हूँ—विशेष कर नृत्य की दृष्टि से, जहाँ कर्मेन्द्रियाँ जिसे हम कर्म कहते हैं उससे कहीं-कहीं अधिक प्रयत्नशील—'कर्मरत'—रहती हैं और साथ ही जहाँ प्रयत्न से ऊपर उठ कर निष्प्रयत्न में स्थित होने का भाव भी अधिक उजागर होता है।

आप कह सकते हैं कि बात संक्षेप में कही जा सकती थी। पर विमर्श संक्षेप ही नहीं विस्तार भी चाहता है। ऊहापोह चाहता है। उसकी अपनी यात्रा होती है, जो हर एक के लिए एक सी नहीं होती। इस बात में विचार भी कला की तरह है—कई तरह से रूप ले सकता है। फिर कुछ लोग समास (छोटा घेर) चाहते हैं कुछ लोग व्यास (फैलाव)। मैं लिखता हूँ तो अकसर व्यास की ओर झुक जाता हूँ। अब आप इसको अपने-आप में दोष कहें तो आरोप का उत्तर नहीं दूँगा।

पर इतना कहूँगा कि बात को बढ़ाना ललित लेख या रम्यरचना की तरह निरुद्देश्य भी नहीं है। हाँ, यह कह सकते हैं कि विचार ही में निरत रहने का भाव या प्रवृत्ति यहाँ प्रबल है। अब इसे चिन्तन में ही रस लेते हुए तत्त्वान्वेषण की उपेक्षा भी आप कहें तो बुरा नहीं मानूंगा। चिन्तन की एक अपनी माँग होती ही है। उसमें भाषा-चेतना भी जागृत रहती है, जैसी कविता में—कविता की तरह नहीं, अपनी तरह, युक्ति-बोध के साथ अपनी तरह, पर इस चेतना को 'भाषाई' कह देना ठीक नहीं। अभी जो कर्म पर लिख रहा हूँ उसमें मेरी अपनी विचार-चेष्टा अभी तक लक्षण-परक है : व्यावृत्ति के द्वार से जिसे हम साधारणतया कर्म कहते हैं और धर्म को जिसका साध्य और आधार-आदर्श मानते हैं, उस क्षेत्र को आँकना-समझना। यह बात मैंने कही भी है (पृष्ट 8 पर) :"—'कर्म' शब्द का साधारण, सहज अर्थ कर्म को नैतिकता या धर्म से जोड़ता है। इस अर्थ को हम कर्म का भीतरी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अर्थ कह सकते हैं या 'कर्म' पद का मूल प्रवृत्ति-निमित्त। हमारा प्रयास होगा कि कर्म के दूसरे अर्थों से हम उस भीतरी अर्थ को अलग करें : इस अपोह से उसके अपने स्वरूप का ऊह—उसकी विचारमयी कल्पना, धी या बुद्धि—यह अधिक निथर कर सामने आ सकती है।" ऐसी चेष्टा **धर्म संकट** में स्पष्ट नहीं थी, पर मुझे लगता है सार्थक है। और कुछ नहीं तो स्वान्तःमननाय सार्थक है। स्वान्तःसुखाय भी शायद कह सकता हूँ—विचार में एक आत्म-विश्रान्ति, एक स्वाच्छन्द्य का बोध होता है जिसे 'सुख' कहा भी जा सकता है। पर इसलिए नहीं कहूँगा, क्योंकि व्यवहार में कुछ करते समय यह विचार कोई नया प्रसाद-बोध, नयी प्रेरणा या वृत्ति-सुलभता जगाता नहीं लगता है, जिसे किसी अर्थ में 'सुख' का नाम दिया जा सके। इसमें शायद विचार के औचित्य के किसी रूप में स्वयंप्रतिष्ठ होने का भी एक इंगित देखा जा सकता है। मेरी व्यावृत्ति की चेष्टा औचित्य के विभिन्न क्षेत्रों को उभारते हुए, इस भेद के आधार पर कर्म के क्षेत्र को अलग करने की है, और फिर उस क्षेत्र की अपनी गुत्थियों को आँकने-समझने की। जिस औचित्य की बात मैं कर रहा हूँ उसमें स्वातन्त्र्य ऊह्य रहता है, और स्वातन्त्र्य में चेतना का अपना 'तन्त्र' उसका विवेक-भाव है जो आत्मचेतना के बिना अकल्पनीय है। विवेक-भाव के औचित्य के विभिन्न क्षेत्र हैं, जहाँ आत्मचेतना अपने स्वातन्त्र्य के प्रति भी आत्मचेतन होती है। शृंखला का दूसरा लेख (जो पिछले **उन्मीलन** में छपा था) इसी को अपनी तरह से दिखाने की चेष्टा थी। चेष्टा यह भी थी कि आत्मचेतना के स्वातन्त्र्य में एक तारतम्य उभारूँ—इसके लिए मैंने वहाँ रुचि और रस का भेद किया है। इन्हें साधारण अनुभूति के भोग-व्यापार की व्याकृति करते हुए आत्मचेतना के दो स्तरों के रूप में आँका है : एक में (रुचि में) आत्मचेतना स्वतन्त्र होते हुए, विवेक करते हुए भी इन्द्रियों को अपनी कसौटी बनाती है। रस में आत्मचेतना का द्रष्टाभाव अपेक्षया इन्द्रिय-मुक्त सूक्ष्मतर, स्वस्थित होता है। विचार का कर्म, और जिसे रस-व्यापार (या सहृदय-व्यापार) कह सकते हैं उनमें भेद है तो एक विचित्र सा अभेद भी है। विचार में हम दूसरे व्यापारों के द्रष्टा हो सकते हैं, उनके प्रति विमर्श में आत्म-चेतन। वहीं कहीं उनके साम्य-वैषम्य को परखते हुए उनके बीच विवेक (भेद) कर सकते हैं।

ऊपर की बातों में शल्य जी की कुछ बातों की भी चर्चा मैं समझता हूँ हो गई है। 'कर्म' और 'औचित्य' के बारे में एक बात कहूँगा। शल्य जी को लगा है कि मैंने 'औचित्य' का विस्तृत अर्थ करते हुए भी उसे निदान में कर्म-धर्म तक ही सीमित रक्खा है। अपनी बात की पुष्टि में उन्होंने उद्धरण भी दिये हैं। उद्धरणों में 'कर्म' का सीमित प्रयोग उभरता है। पर इन प्रयोगों को समग्र के साथ लेना चाहिये, जहाँ तात्पर्य 'कर्म' के विस्तृत अर्थ के सन्दर्भ में उसके साधारण, सीमित अर्थ को समझना है। कर्म का साधारण प्रयोग अगर कहीं-कहीं प्रबल हो गया है तो यह अस्वाभाविक नहीं है। हाँ, पूरा लिख लेने के बाद, क्रमशः प्रकाशित लेख अगर एक साथ कभी कहीं छपें तो बात को ध्यान में रखना होगा कि ऐसी भ्रान्ति की सम्भावना जहाँ तक हो सके कम से कम रहे। पर एक उद्धरण को यहाँ लेता हूँ, जिसे शल्य जी ने रेखांकित भी किया है। पृ. 15 पर मैंने लिखा : "अगर इच्छा जैसी अन्तर की वृत्ति को हम प्रत्यक्ष कह सकते हैं तो धर्म-बोध जैसे अन्य बोधों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

को नहीं, जहाँ औचित्य की बात बोध की आत्मा ही होती है" (वाक्यांश को मैंने रेखांकित नहीं किया है)। यहाँ कहा तो यही जा रहा है कि धर्म-बोध ही नहीं और भी बोध हैं जहाँ औचित्य-बोध बोध की आत्मा होती है। मेरी चेष्टा इन बोधों से धर्म-बोध को अलग उभारने की है। 'कर्म' शब्द के मेरे व्यापक प्रयोग पर टिप्पणी करते हुए—उसके व्यापक प्रयोग की विद्यमानता को मान भी लेते हुए—शल्य जी ने **गीता** से शब्द के दो प्रयोग दिये हैं जहाँ 'कर्म' के ऐसे विपरीत अर्थ हैं जिन्हें कोई परस्पर प्रतीप भी कह सकता है। पहले प्रयोग में 'कर्म' का अर्थ 'क्रिया' ही ठहरता है—अगर प्रकृति के गुण ही हमसे कर्म करवाते हैं तो यह कर्म कैसा जहाँ स्वातन्त्र्य अपेक्षित नहीं है? दूसरे प्रयोग में योग को कर्म-कौशल के रूप में देखा गया है। बात सीधी-सरल सी नहीं लगती, पर प्रयोग ललकारता है कि मुझे समझो। पर जैसे भी उसे समझें, 'कर्म' का अर्थ यहाँ क्रिया तो नहीं हो सकता। शल्य जी ने योग उस साधना को कहा है जिसका साध्य आत्मचेतना का 'परम' होता है। उनके अनुसार आत्मचेतना ही क्रिया को कर्म बनाती है, और योग में आत्मचेतनता परम साध्य होती है। क्रिया और योगनिष्ठ कर्म के बीच कई स्तर या सोपान भी हो सकते हैं, जैसा शल्य जी ने कहा है। इनके बीच विभाजन की स्पष्ट रेखायें डालना भी सम्भव नहीं होगा। पर भोक्तृत्व की तरह कर्त्तृत्व में भी हम आत्मचेतना के कुछ स्तर-भेद तो कर ही सकते हैं। शल्य जी के विचार में योग इस आत्मचेतना का चरम है। उनका अभिप्राय यही बनना चाहिये कि इस अर्थ में योग हमारी सार्थक प्रवृत्ति मात्र का आधार और उत्स है, चाहे प्रवृत्ति किसी भी क्षेत्र की हो। औचित्य के किसी परम ऐक्य की मैं यहाँ चर्चा नहीं करूँगा। पर योग अगर कर्मसु कौशलम् हो (बहुवचन को लक्ष्य कीजिये) तो हम इसे कर्म का नैष्कर्म्य भी कह सकते हैं—कर्म के ऐसे सहज की साधना जहाँ साध्य और साधन एक अभिन्न चेष्टा में सिमट आते हैं, मानो अयुतसिद्ध हों, अनायास परस्पर-भाव में बद्ध। कला, विचार और कर्म तीनों ही में यह प्रयत्न का एक आदर्श कहा जा सकता है। पर भेद की ओर भी इंगित करता है। विचार में यह अनायास सिद्ध सा लगता है, शब्द और विचारकर्म मानो अपृथक्-प्रयत्न-सिद्ध जान पड़ते हैं। नृत्य जैसी कला में प्रयत्न पृथक् होते हुए भी सहज की सिद्धि उतनी दुर्लभ नहीं जितनी कर्म में।

'नीति' शब्द पर टिप्पणी करते हुए शल्य जी ने धर्म को साध्य ही नहीं साधन भी कहा है, सबसे बड़ा उपाय-कौशल। यह तो धर्म का लक्षण होना चाहिये कि उसमें साध्य-साधन का भेद न हो, साधन भी साध्य की ही कोटि में आता हो। पर इस बात को अगर 'ऑनेस्टी इज़ द बेस्ट पॉलिसी' जैसी कहावत के माध्यम से कहा जाये (जैसा शल्य जी कहते हैं) तो बात संदिग्ध लगती है। यह बृहस्पति नीति की बात भी हो सकती है, जहाँ साध्य स्वार्थ है, जिसे साधने के लिए बड़ी कुशलता से धर्म को भी उपाय बनाया जा सकता है। धर्म यहाँ उपाय हो जाता है, उपेय नहीं रहता, पर उसमें कौशल मात्र के लिए अपेक्षित निरहं भाव भी रहता है—एक प्रकार से जिसे अहंकार का स्थगन भी कह सकते हैं; पर स्थगन दूसरे के लिए होता है, अपने भीतर नहीं, इसलिए उसे स्थगन का प्रतिभास भी कहा जा सकता है। नीति के इस रूप की चर्चा मैंने धर्म-संकट में **महाभारत** की एक कथा के सहारे की है। शल्य जी ने एक पते की बात उठाई है पर मैं जिस पर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यहाँ नहीं, आगे आने वाले लेख में चर्चा करूँगा (आशा है अब बहुवचन नहीं होगा)। शल्य जी कहते हैं कि सामाजिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए—या कह सकते हैं व्यवस्था मात्र के प्रबन्ध के लिए—कुछ ऐसे उपाय अपेक्षित होते हैं जिनका धर्म-अधर्म से सम्बन्ध नहीं होता—हालांकि यहाँ भी वे गाँधी जी का उदाहरण लेते हुए एक 'तारतम्य' की बात करते हैं। कहते हैं सम्बन्ध हो सकता है—अर्थ-प्रबन्ध भी योग का अंग हो सकता है। और यों मनुष्य का कोई भी साध्य-साधन का भाव योग का अंग हो सकता है, जहाँ उपाय और उपेय एक हो जाते हैं। पुराने शब्दों में कहें तो उन्होंने यहाँ जो मत प्रकट किया है उमसें वे अर्थ और धर्म के क्षेत्रों को पृथक् मानते हैं। मेरे लिए धर्म और नीति के विरोध-अविरोध की गुत्थी और गुत्थी से एकाकार एक गहरी विडम्बना का बोध (जिसे मैंने उलटबाँसी भी कह दिया है), उसका शायद यही सबसे बड़ा प्रश्न है। पुराना प्रश्न है और मैं समझता हूँ चिरन्तन भी है। दूसरे रास्तों निकल गया हूँगा, पर विचार इसी पर करने बैठा हूँ।

आगे शल्य जी ने कर्म के स्वरूप पर चर्चा करते हुए मेरी विवेचना पर जो टिप्पणी की है उस पर आगे लेख में ही विचार करूँगा। पर अन्यथाकरण की बात को छेड़ता हूँ। अन्यथाकरण आत्मचेतना की प्रवृत्ति मात्र में होता है—कर्म के व्यापक अर्थ का यही संकेत है। विचार, कविकर्म, नृत्यकर्म सबमें अन्यथाकरण होता है, नहीं तो ऐसे साध्य-साधनभाव की बात ही नहीं हो सकती जहाँ 'प्रयत्न' शब्द का सार्थक प्रयोग हो सके। हाँ, अन्तर-बाह्य का भेद किया जा सकता है। विचार, कविकर्म, योग-साधना ये अन्तर के कर्म हैं। पर जिस कर्म का सम्बन्ध धर्म से है उसमें एक बाह्यता अपेक्षित लगती है। क्या वह बाह्यता देशात्मक है? जिस अन्य के प्रति या अन्य के साथ हम कर्म-क्षेत्र में होते हैं—मनुष्य—उसे क्या देशात्मक कह सकते हैं? किसी गहरे अर्थ में वह 'आंतर' ही होता है। पर अन्य भी होता है, देशात्मक चाहे न हो पर हमारी ही तरह देश में रहता है। प्रश्न उठता है कि जिसे हम कर्म कहते हैं उसके क्षेत्र को कैसे समझें और आँकें? अपने दूसरे अन्तर और बाह्य क्षेत्रों से उसे कैसे पृथक् करें? यही मेरे प्रश्न हैं। बाह्यता का प्रश्न दर्शन का गूढ़ और सुविचारित प्रश्न है। शल्य जी बाह्यता का एक अपना सा अर्थ लेते हैं जो उनके चिन्तन में बड़ा सुविचारित है। मैं भी कर्म को आगे रखते हुए विचार करूँगा ही।

अन्त में धन्यवाद। सरला जी और शल्य जी के साथ उनको भी जिन्होंने उन्मीलन-गोष्ठी में लेख पर चर्चा की। लिखा जाता हुआ लेख है, चर्चा आगे लिखने में उपकारी होगी।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सविकल्पकनिर्विकल्पकविचारः

टी. श्रीनिवासशास्त्री

(हिन्दी-संक्षेपिका)

(पण्डित टी.एस. श्रीनिवासशास्त्री जी एक योगी-सुलभ प्रज्ञा के अधिकारी थे। आजीवन ब्रह्मचर्य और विद्योपासना ही उनका व्रत रहा। नव्यन्याय और अद्वैतवेदान्त में उनकी असामान्य विद्वत्ता जगद्विदित है, किन्तु उन्होंने बहुत ही कम लिखा।

यह लेख प्रो. एन.एस. रामानुज ताताचार्य जी, तत्कालीन राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति के अनुरोध पर लिखा गया था और विद्यापीठ की विशेष व्याख्यानमाला के रूप में प्रस्तुत किया गया था।)

भारतीय प्रमाणमीमांसीय विचार-परम्परा में निर्विकल्पक ज्ञान का स्वीकार किया जाना ही एक नूतन प्रस्थान का अयमारम्भ कहा जा सकता है। अनेक ऊहापोह के माध्यम से बौद्ध वर्णित 'स्वलक्षण' वाद के अन्यथा स्वीकार के प्रति निर्विकल्पक अथवा वाचस्पतिमिश्रोक्त अविकल्पक ज्ञान की स्वीकृति ब्राह्मण न्याय-परम्परा की विवशता मानी जा सकती है। योग-सांख्य-काणाद-वैयाकरण मतों को, जहां निर्विकल्पक प्रमा के प्रति प्रतिबद्धता का अभाव भासमान होता है, संक्षेप में प्रतिपादित करते हुए मीमांसक और प्राचीन नैयायिकों के माध्यम से इस तत्वज्ञानीय परम्परा का एक ऐतिहासिक क्रम विकास यह प्रबन्ध प्रस्तुत करता है।

जाति, जात्याकृतिविशिष्ट व्यक्ति, अथवा जातिसमवेत व्यक्तिरूप पदार्थ-सत्ता अथवा स्वलक्षणमात्रात्मक पदार्थ-सत्ता विषय-विधा से ज्ञानभास्यता निर्विकल्पक प्रमा परीक्षा की परिधि में आते हैं। जयन्त भट्ट, उदयनाचार्यादि प्राचीन न्यायाचार्यों के मतों पर संक्षेप में विचार करते हुए सम्भवतः नव्यन्याय परम्परा का प्रथम पथ-प्रदर्शक शशधर मिश्र प्रणीत न्याय सिद्धान्तदीप ग्रन्थोक्त विचारों का तात्त्विक विवेचन यहां प्रस्तुत किया गया है। निर्विकल्पक ज्ञान में नाम-नामी (संज्ञा-संज्ञी) सम्बन्ध-भान और नाम-जाति आदि व्यक्ति से सम्बन्ध-भान स्वीकार्य और अस्वीकार्य यह कोटीद्वय में विवादित रहा। इन विवादों का स्वशास्त्रीय मर्यादा में समाधान शास्त्रीय परिनिष्ठता का द्योतक है। अतएव सम्बन्ध-भान की प्रकारता-संसर्गता-विशेष्यता रूपक विषयता अतिरिक्त तुरीय विषयता स्वीकार करते हुए निर्विकल्पक ज्ञान की अनस्वीकार्यता यह प्रबन्ध का प्रतिपाद्य है।

अच्युतानन्द दाश

सर्वोऽपि लोको विषयज्ञानपुरःसरमेव प्रवर्तते निवर्तते चेत्येतत् सर्वानुभवसाक्षिकम्। प्रवृत्तिनिवृत्त्योः कारणीभूतं च ज्ञानं नामजातिगुणादिप्रकारकं व्यक्तिविशेष्यकं विशेषण-विशेष्य वैशिष्ट्यविषयकं सविकल्पकमेवेति सर्वतन्त्र सिद्धान्तः। ज्ञाने प्रकारीभूतं जात्याद्यवस्त्विति बौद्धाः। वस्त्वित्यपरे। सर्वव्यवहारस्य सविकल्पकज्ञानपूर्वकत्वाद्व्यवहारानुपयोगि निष्प्रकारकं विशेषण-विशेष्यवैशिष्ट्यानवगाह्यसंसृष्टवस्तुमात्रगोचरं निर्विकल्पकसंज्ञकं ज्ञानं किमर्थमिति प्रश्नः समुत्तिष्ठति। अमुं प्रश्नमसहमाना बौद्धास्तावदिन्द्रियार्थ संनिकर्षाज्जायमानं ज्ञानं निर्विकल्पकमेव, तदेव प्रत्यक्षं प्रमाणं चेति घोषयन्ति। कणादप्रभृतय उदयनाचार्यपर्यन्ताः प्राचीनाः सर्वेऽपि निर्विकल्पकज्ञानाङ्गीकारस्यावश्यकतामुपपादयन्ति। निर्विकल्पकज्ञान सद्भावे प्रमाणविचारं न प्रवर्तयन्ति। उदयनाचार्यादर्वाचीनो गङ्गेशोपाध्यायात्प्राचीनः शशधरमिश्र एव

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

स्वकीये षड्विंशतिवादात्मके **न्यायसिद्धान्तदीपनामके** निबन्धे निर्विकल्पकवादे प्रथमतया प्रमाणविचारं प्रस्तौति। नव्यन्याय महर्षिर्गङ्गेशोपाध्यायस्तत्त्वचिन्तामणौ शशधरसरणिमनुसरतीत्येतदुभयग्रन्थपरिशीलिनामतिरोहितम्। प्राधान्येन शशधरनिर्विकल्पकवादं विदुषां पुरतः प्रकटयितुकामा अपि वयं यावच्छक्यं सविकल्पकनिर्विकल्पकविषये सर्वदार्शनिकानां मतान्यनुक्रमेणोपक्षिपामः॥

योगदर्शनम्

पतञ्जलिः 'वृत्तयः पञ्चतरयः क्लिष्टाक्लिष्टाः' (यो.सू. 1.5) 'प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः' (यो.सू. 1.6) इति सूत्राभ्यां पञ्चधा वृत्तिं विभज्य 'प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि' (यो. सू. 1.7) इति सूत्रेण प्रमाणवृत्तिं निरूपयति। तत्र 'इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात्तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्' (यो.सू.भा. 1.7) इति प्रत्यक्षप्रमाणविवरणपरं व्यासभाष्यं योगदर्शने सविकल्पकमेव प्रत्यक्षं, न निर्विकल्पकमिति निःशङ्कं प्रतिपादयति। 'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः' (यो. सू. 1.51) इत्यसंप्रज्ञातसमाधिप्रतिपादकं पातञ्जलं सूत्रम्। अस्यायमर्थः-तस्यापि संप्रज्ञातस्यापि निरोधे सर्वनिरोधात् सर्वासां चित्तवृत्तीनां निरोधात् निर्बीजः समाधिः। या चित्तस्य निरुद्धावस्था सा निर्बीज समाधिशब्देन व्यवह्रियते-इति। निर्बीजसमाधिः असंप्रज्ञातसमाधिः निर्विकल्पसमाधिः इत्यनर्थान्तरम्। अस्मिन् समाधौ निर्विकल्पिका सविकल्पिका वा कापि वृत्तिर्नास्त्येव। तस्माद्योगदर्शने निर्विकल्पकं ज्ञानं नास्त्येव॥

सांख्यदर्शनम्

उपलभ्यमानेषु सांख्यग्रन्थेषु अतिप्राचीना ईश्वरकृष्णकारिकाः, सांख्यप्रवचनसूत्राणि त्वर्वाचीनानीति कालपरीक्षाकुशला अभिप्रयन्ति। श्रीवाचस्पतिमिश्रव्याख्यापेक्षयात्यन्तं प्राचीना सांख्यकारिकाटीका **युक्तिदीपिका** इत्यत्र न कस्यापि विप्रतिपत्तिः। सांख्यदर्शने अहंकारकार्याणीन्द्रियाणि प्राप्यकारीणि। तेषां विषयसम्बन्धेन वृत्तिः=व्यापारः=परिणामः भवति। इन्द्रियवृत्तौ या विषयताद्रूप्यापत्तिः=विषयाकारतापत्तिः तदेव आलोचनं ग्रहणं इत्युच्यते। विषयग्रहणलक्षणा इन्द्रियवृत्तिः प्रमाणम्। इन्द्रियवृत्तिमनुमनसो विविक्त विषयाकारपरिणामो भवति। पुरुषस्य चैतन्यं प्रत्ययशब्देनाभिधीयते। इन्द्रियवृत्त्यनुपाती मनसो विविक्तविषयाकारपरिणामः पुरुषचैतन्यव्याप्त एव जायते। प्रत्ययशब्दवाच्यप्रकाशशून्या इन्द्रियवृत्तिर्विषयाकारापि विषयं न प्रकाशयति। पुरुषचैतन्यरूपप्रत्ययवती विषयाकारा मनोवृत्तिरेव विविक्ततया जात्यादि योजनया विषयं प्रकाशयतीति प्रत्ययवती सङ्कल्पात्मकमनोवृत्तिमेवाध्यवसायपदेन व्यपदिशन्ति सांख्याः। तस्मात् सांख्यदर्शने सर्वं ज्ञानं सविकल्पकमेव। उक्तार्थे युक्तिदीपिकां प्रमाणयामः-'सांख्यवृद्धा आहुः आहंकारिकाणां तु तेषां (इन्द्रियाणां) व्यापकत्वाद्विषयाकारपरिणामात्मिका वृत्तिर्वृत्तिमतोऽनन्या सती संभवत्येवेति सुवचं प्राप्यकारित्वम्' (103.25-27) 'करणस्य कस्मिन्नर्थे वृत्तिः, किंलक्षणा वा वृत्तिः इति। उच्यते— यदुक्तं तस्य कस्मिन्नर्थे वृत्तिरित्यत्र ब्रूमःरूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः' (सा. का. 28)। रूपादिषु शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेषु स्वभेदभिन्नेषु पञ्चानां श्रोत्रत्वम् चक्षुर्जिह्वाघ्राणानां श्रवणस्पर्शनदर्शनरसनघ्राणक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

क्षणो व्यापारो वृत्तिरित्युच्यते। यत्पुनरेतदुक्तं किंलक्षणेत्यत्र ब्रूमः- आलोचनमात्रं इष्यते इति। आलोचनंग्रहणमित्यनर्थान्तरम्। विषयसंपर्कादिन्द्रियवृत्तेस्ताद्रूप्यापत्तिरेव ग्रहणमित्युच्यते। मात्रशब्दो विशेषनिवृत्त्यर्थः। छन्दोमात्रमधीते माणवक इत्युक्ते नान्यदधीत इति। एवमालोचन-मात्रमिन्द्रियाणामिष्यते वृत्तिरित्युक्ते नान्यो विशेष इति गम्यते। तस्मादिन्द्रियमप्रत्ययमिति। ग्राहकं श्रोत्रादि, व्यवसायकमन्तःकरणम् इति (पृष्ठ 102-103) 'प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्' (सां. का. 5) अध्यवसायोबुद्धिः। विषयं विषयं प्रति वर्तत इति प्रतिविषयम् इन्द्रियमम्। तस्मिन्योऽध्यवसायः सः प्रतिविषयाध्यवसायः। उपात्तविषयाणा- मिन्द्रियाणां वृत्त्युपनिपातिमनसः सत्त्वोद्रेकादरजस्तमस्कं यत् प्रकाशरूपं तद् दृष्टम् प्रत्यक्षमित्यर्थः'। (पृष्ठ 35)

योगदर्शन भट्टवार्त्तिक—वासनावासितान्तःकरणाः श्रीवाचस्पतिमिश्राः पूर्वोक्तकारिकागतस्य वृत्तिशब्दस्य संनिकर्षार्थकत्वं, आलोचनशब्दस्य निर्विकल्पार्थकत्वं चाभिप्रेत्य विषयेन्द्रिय-संनिकर्षसमनन्तरं 'इदम्' इति संमुग्धं वस्तुमात्रदर्शनमालोचनं निर्विकल्पकं जायते, ततः संकल्पकं मनः 'इदमेवम्' 'न एवम्' इति सम्यक् कल्पयति। विशेषणविशेष्यभावेन विवेचयतीति सांख्य-तत्त्वकौमुद्यामभिदधति। यद्यपि वाचस्पतिमिश्रास्तात्पर्यटीकायां 'वार्षगण्यस्यापि लक्षणमयुक्त-मित्याह श्रोत्रादिवृत्तिरिति। पञ्चानां खल्विन्द्रियाणामर्थाकारेण परिणतानामालोचनमात्रं वृत्तिरिष्यते' (पृष्ठ 242.9-10) इति सांख्याचार्यस्य वार्षगण्यस्य सिद्धान्तं खण्ड्यत्वेनानुवदन्ति, तथापि वार्षगण्ययुक्तिदीपिकाकारौ प्रमाणयन्तः सांख्यदर्शननिष्णाताः ईश्वरकृष्णकारिकायाः श्रीवाचस्पतिमिश्रव्याख्या सांख्यसिद्धान्तं न स्पृशतीति तां नाद्रियन्ते। तस्मात् सांख्यदर्शने निर्विकल्पकज्ञानं नास्त्येव।

भर्तृहरिमतम्

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यःशब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते। (वा. प. 1.115)
वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥ (वा. प. 1.116)

इति सर्वस्य ज्ञानस्य वाग्रूपतां प्रतिपादयति भर्तृहरिः। विषयं विना ज्ञानमेव नास्ति, यतो विषयनिरूप्यं ज्ञानम्। विषयनामधेयेनैवज्ञानं व्यपदिश्यते। शब्दार्थयोस्तादात्म्यमन्तरा विषय-निरूप्यज्ञानस्य वाग्रूपत्वं दुर्वचम्। अर्था हि प्रतीयमाना नामधेयैरुपेतास्तत्सामानाधिकरण्ये-नावगम्यन्ते, गौरिति अर्थः, अश्व इति अर्थः इति। नामधेयात्मानोऽर्थाः, तत्सामानाधिकरण्येन प्रतीयमानत्वात्, यत्पुनर्यदात्मकं न भवति न तत्सामानाधिकरण्येन प्रतीयते, यथा गौरश्वसामानाधिकरण्येन, प्रतीयन्ते चार्थाः शब्दसामानाधिकरण्येन, तस्माच्छब्दात्मानोऽर्था इति। बालमूकादीनामपि विज्ञानं शब्दानुव्याधवदेव, अनादिशब्दवासनावशात्। उक्तं च हरिणा—

आद्यः करणविन्यासः प्राणस्योर्ध्वं समीरणम्।
स्थानानामभिघातश्च न विनाशब्दभावनाम्॥ (वा. प. 1.114) इति।

तस्मात् सर्वमर्थज्ञानं शब्दतादात्म्यरूपसम्बन्धविषयकं इति ज्ञानं सविकल्पकमेव, न निर्विकल्पकम्॥

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अक्षपादमतम्

"इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्" (न्या. सू. 1.1.4) इति प्रत्यक्षसूत्रम्। इदं सूत्रं प्रत्यक्षलक्षणपरमेव। विभागलक्षणोभयपरत्वे वाक्यभेदः प्रसज्येत। योगविभागेन यद्यप्युभयपरत्वं वक्तुं शक्यं तथापि लक्षणकथनानन्तरं लक्षितस्य वस्तुनो विभागप्रदर्शनमित्युत्सर्गः। प्रकृते अवसायः= निश्चयः। व्युपसृष्टोऽवसायः= विकल्पितो निश्चयः। तदात्मकंज्ञानंप्रत्यक्षमितिफलितम्। लक्षणघटकमव्यपदेश्यपदं लक्ष्यासंभववारकतया सार्थकम्। सर्वं प्रत्यक्षं विषयनामधेयपुरस्सरमेवोत्पद्यते विषयनामधेयेन व्यपदिश्यते च। नियमेन यत्नपूर्वकं यज्जायते तत्तदुपायकं, यथा इन्द्रियपूर्वकं प्रत्यक्षमिति इन्द्रियकरणकमुच्यते तथा शब्दपूर्वकमिति शब्दोपायकमपि। विकल्पज्ञाने शब्दस्य साधकतमत्वात् सर्वं प्रत्यक्षं शाब्दमिति इन्द्रियमात्रासाधारणकरणकत्वं प्रत्यक्षस्य न संभवतीत्यशाब्दं प्रत्यक्षमेव नास्तीति शङ्का समुन्मिषति। अत्युत्पन्नस्येन्द्रियेण शब्दानुपायकं यादृशं व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षं जायते व्युत्पन्नस्यापि तादृशमेव जायते। व्यवहारकालेतु शब्दः व्याप्रियते। अतो नियमेन शब्दपूर्वकत्वाभावादशाब्दं प्रत्यक्षं संभवतीति पूर्वोक्तामाशङ्कां परिहर्तुमव्यपदेश्यपदमिति सूत्रकाराशयाभिज्ञो भाष्यकारो वात्स्यायनः "इन्द्रियार्थसंनिकर्षादुत्पन्नमर्थज्ञानं रूपं इति वा, रस इत्येवं वा भवति, रूपरसशब्दाश्च विषयनामधेयम्। तेन व्यपदिश्यते ज्ञानं रूपमिति जानीते, रस इति जानीते। नामधेयशब्देन व्यपदिश्यमानं सत् शाब्दं प्रसज्यते। अत आह— अव्यपदेश्यमिति। यदिदमनुपयुक्ते शब्दार्थसम्बन्धे अर्थज्ञानम् न तत् नामधेयशब्देन व्यपदिश्यते, गृहीतेऽपि च शब्दार्थसम्बन्धे अस्यार्थस्यायं शब्दो नामधेयमिति। यदा तु सोऽर्थो गृह्यते तदा तत् पूर्वस्मादर्थज्ञानात् न विशिष्यते, तत् अर्थविज्ञानं तादृगेव भवति ... अर्थज्ञानकाले स न समाख्याशब्दो व्याप्रियते, व्यवहारकालेतु व्याप्रियते। तस्मादशाब्दम् अर्थज्ञानमिन्द्रियार्थ-संनिकर्षोत्पन्नम्" (पृष्ठ 197.21-198.10) इति भाष्येण इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नस्य ज्ञानस्य अव्यपदेश्यपदेनाशाब्दत्वमुपपाद्य इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं= सविकल्पात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षलक्षणपरतया सूत्रं व्याचक्षाणः सविकल्पकमेव प्रत्यक्ष-मभ्युपैति, न निर्विकल्पकम्।

भाष्याशयमेव विवृण्वन्नुद्योतकरोऽपि 'तच्चेन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नं ज्ञानं विषयनामधेयेना-भिधीयते इति भाष्यम्। तत्प्रतिषेधार्थमाह अव्यपदेश्यमिति। यदिदमनुपयुक्तशब्दार्थसम्बन्धस्य विषयभेदानुविधायि ज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्। कृतशब्दार्थसम्बन्धस्यापि तदुत्पत्तिकाले तादृगेव' (पृष्ठ 203.24-204.2) इति वार्त्तिकेन निःशङ्कं प्रत्यक्षलक्षणसूत्रप्रतिपाद्यं ज्ञानं सविकल्पकमेवेति मन्यते।

जयन्तभट्टः न्यायमञ्जर्यां उभयजज्ञानस्य व्यवच्छेदार्थं सूत्रे अव्यपदेश्यपदमिति आचार्याणाम-भिप्रायं वर्णयन्ति। तथा हि 'व्यवच्छेद्यान्तरमव्यपदेश्यपदस्य वर्णयांचक्रुराचार्याः। शब्दार्थेषु स्थविरव्यवहारतो व्युत्पद्यमानो जनः संशयावगमसमये संज्ञोपदेशकादयं पनस उच्यत इति वृद्धोरिताद्वाक्यात् पुरोऽवस्थितशाखादिमन्तमर्थं पनसशब्दवाच्यतया जानाति। तदस्य ज्ञानमिन्द्रियजमपि न केवलेन्द्रियकरणकं भवितुमुचितम्। असति संज्ञोपदेशिनि शब्दे तदनुत्पादात्। तेन शब्देन्द्रियाभ्यां संभूयजनितत्त्वादुभयजमिदं ज्ञानं व्यपदेशाज्जातमिति व्यपदेश्यमुच्यते। तदव्यपदेश्यपदेन व्युदस्यते। न चेदं पञ्चमप्रमाणमवतरति, किंतु शाब्दमिवै-

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तदनुमन्यते लोकः। तथा च कथं पुनर्जानीते भवान् पनसोऽयमिति पृष्ठः प्रतिवक्ति- मम देवदत्तेनाख्यातंपनसोऽयमिति। न पुनरेवं विस्मृत्यापि ब्रवीति चक्षुषा मया प्रतिपन्नं पनसोऽय-मुच्यत इति। तदिन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधाने सत्यपि शब्द एवात्र करणम् ... इन्द्रियानु-प्रवेशेऽपि शाब्दतामस्य मन्यते सूत्रकारः। इह पुनः अव्यपदेश्य विशेषणपदोपादानेन शब्दानुप्रवेशनिषेधान्न प्रत्यक्षफलमेतज्ज्ञानम्। तस्मादेवंविधव्यपदेश्यविज्ञानव्यवच्छेदार्थ-मव्यपदेश्यपदम्' (73.27-24.10) इति। अत्र जयन्त भट्टेन निर्दिश्यमाना आचार्या न श्री वाचस्पति मिश्राः, यत उदयनाचार्याः परिशुद्धौ उपमानप्रकरणे "अत्रोपमानस्य फले विप्रतिपद्यमानान् प्रति साशङ्कं जरन्नैयायिकजयन्तप्रभृतीनां परिहारमाह-यद्यपीति" (पृष्ठ 362.3-4) इति श्रीवाचस्पतिवाक्यमवतारयन्ति।

किं च श्रीवाचस्पतिमिश्रा न्यायकणिकायां श्रीमण्डनमिश्रवाक्यव्याख्यानसमये वात्स्यायन भाष्याशयमेवं वर्णयन्ति "भाष्यकारो हि शाब्दज्ञाननिवृत्त्यर्थम् अव्यपदेश्य पदं वर्णयां बभूव। तथा हि यत्र प्रत्यक्षेण दृश्यमाने केसरादिमति वस्तुनि नागरिकेणारण्यकं प्रत्युच्यते तुरङ्गोऽयमिति तत्रारण्यकस्तस्य वस्तुनस्तुरङ्गमपदवाच्यतामुपैति मानद्वय व्यापारात् ... तच्चैतदुभयजमपि ज्ञानं शाब्दमेव, शब्दस्य तत्र साधकतमत्वात्। सत्यपीन्द्रियार्थ सन्निकर्षे शब्दाभावे तदनुपपत्तेः। ... तस्मादुभयजस्य विज्ञानस्य शाब्दस्य निवृत्त्यर्थमव्यपदेश्य पदं व्याख्यातं अयुक्तं स्यात्" (पृष्ठ 126.9-19) इति। न्यायमञ्जर्युक्ताचार्य व्याख्यादृष्ट्या न्यायकणिकागत श्रीवाचस्पतिमिश्र व्याख्यादृष्ट्या च सूत्रकारेण निर्विकल्पकं नाभिप्रेतमिति स्पष्टं जानीमः।

अत्रायमाक्षेपः—"यदिदमनुपयुक्ते शब्दार्थसम्बन्धेऽर्थज्ञानं न तत् नामधेय शब्देन व्यपदिश्यते। गृहीतेऽपि च शब्दार्थसम्बन्धेऽस्यार्थस्यायं शब्दो नामधेयमिति। यदा तु सोऽर्थो गृह्यते तदा तत् पूर्वस्मादर्थज्ञानान्न विशिष्यते। तदर्थविज्ञानं तादृगेव भवति" इति हि वात्स्यायन भाष्यम्। इदं भाष्यं श्रीवाचस्पतिमिश्राः टीकायामेवं विवृण्वन्ति "यथा अन्युत्पन्नस्य रूपादिषु शब्दरहितं निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं तथा व्युत्पन्नस्यापि नामधेयस्मरणाय पूर्वमेषितव्यो विनैव नामधेयमर्थप्रत्ययः। यदा तु सोऽर्थः नामधेयरहितो नामधेयस्मरणात्पूर्वमविकल्पेन गृह्यते तदा पूर्वस्मात् अव्युत्पन्नावस्थायां अर्थज्ञानान् न विशिष्यते इति। यतो न विशिष्यते तस्मात् तदर्थज्ञानं तादृगेव भवति (पृष्ठ 222.25-226.2) इति। उदयनाचार्या अपि 'तदर्थज्ञानं तादृगेव भवति' इत्यस्य 'तत्समानजातीयमेव भवतीत्यर्थः' (पृष्ठ 263.22) इति विवरणं कुर्वन्ति।

जयन्तभट्टोऽपि "यदिदमविदितपदपदार्थ सम्बन्धस्य ज्ञानमुत्पद्यते विदितसम्बन्धस्यापि वा यत् प्रथमाक्ष सन्निपात समय एव ज्ञानमनुल्लिखितशब्दकं शब्दानुस्मरणे हेतुभूतमुपजायते तदशाब्दम्। अशब्दावच्छिन्नविषयमव्यपदेश्यमिन्द्रियार्थ सन्निकर्षैककरणं अविकल्पकं प्रत्यक्षम्" (74.4-7) इति न्यायमञ्जर्यां वदति।

जयन्त भट्ट टीकाकारानुभावपि पूर्वनिर्दिष्ट भाष्यस्यान्युत्पन्नस्य इन्द्रियार्थ सन्निकर्षेण नामधेय रहितं यादृशं निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं भवति तादृशमेव व्युत्पन्नस्यापि प्रथमाक्ष सन्निपात समनन्तरक्षणं नामधेय संस्पर्शरहितं निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं भवतीत्याशयं वर्णयतः।

एवं स्थिते यथा अव्युत्पन्नस्य नामधेयरहितं सविकल्पकं प्रत्यक्षं भवति तथा व्युत्पन्नस्य तादृशमेव सविकल्पकं प्रत्यक्षं जायते इति कथं जयन्तभट्टटीकाकारविरुद्धं भाष्याशयं भवान् वर्णयति—इति।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इदमत्र समाधानम्—व्याख्याग्रन्थाननवलम्ब्य केवलं भाष्यवाक्यं समालोचनीयमस्माभिः। लोके कश्चन अश्वपदार्थं न जानीते। स वाजिशालां गतः। तत्र बहून् वाजिनः पश्यति। गृहीतसंकेतेन पुरुषेण यादृशाकृतिरूपादि विशिष्टव्यक्तयः प्रत्यक्षीक्रियन्ते तथैव अविदिताश्वपदार्थपुरुषेणापि आकृतिरूपादिविशिष्टा व्यक्तयः प्रत्यक्षीक्रियन्ते। नामधेयज्ञानाभावात् पदार्थं तज्ज्ञानं वा अश्वनामधेयेन न व्यपदिशति। गृहीतसंकेतस्तु पुरुषो नामधेय शब्देन व्यवहरति। अत एव "अर्थज्ञानकाले सः समाख्या शब्दो न व्याप्रियते, व्यवहार काले तु व्याप्रियते" इति भाष्यम् संगच्छते। अनुपयुक्त शब्दार्थ सम्बन्धे यदिदमर्थज्ञानं न तन्नामधेयशब्देन व्यपदिश्यते, गृहीते तु शब्दार्थ सम्बन्धे तेन शब्देनार्थो ज्ञानं च व्यपदिश्यते इति लोकानुभवतः। भाष्यकार एकमेव पुरुषं मनसि निधाय अव्युत्पन्नतादशायां नामधेयं विना तस्य संस्थानविशेष रूपादियुक्त वस्तुप्रत्यक्षं यादृग्भवति तादृगेव व्युत्पन्नतादशायामपि भवतीति वदति। व्युत्पन्नता दशायामस्यार्थस्यायं शब्दो नामधेयमिति जानाति व्यवहरति च। अयमेव विशेषः पूर्वावस्थात् उत्तरावस्थायाः। तस्माद्वात्स्यायनो निर्विकल्पं प्रत्यक्षं नाभिप्रैति। भाष्याशय वर्णनपरः उद्योतकरोऽपि निर्विकल्पकं न वदतीति वयं ब्रूमः। वात्स्यायनः सविकल्पक प्रत्यक्षे नामधेय योजनां नाङ्गीकुरुते। तदनन्तर कालिका वसुबन्धु-दिङ्नागप्रभृतयः सविकल्पके नामयोजनां वक्तुं प्रारभन्त।ताननुसरन्तो भट्टपादाः सविकल्पके नामयोजनां नामधेयस्मरणजनकसंस्कारोद्‌बोधकत्वेन निर्विकल्पकस्य आवश्यकतां च प्रोचुः। भट्टपादमार्गमनुसरन्तः सर्वेऽपि नैयायिकाः सविकल्पके नाम योजनां प्रदर्शयन्ति इति न विस्मर्तव्यम्।

कणाददर्शनम्

"आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत्" (वै.सू. 3.1.13) इति सूत्रे आत्मलिङ्गत्वेनोक्तं प्रत्यक्षं सविकल्पकमेव निर्दिशति कणादः। प्रत्यक्षस्य लक्षणसूत्रमपीदमेव। सूत्रस्यायमर्थः—आत्मेन्द्रियमनोऽर्थ चतुष्टय सन्निकर्षाद्यदुत्पद्यते प्रत्यक्षं तदन्यत् आत्मज्ञापकं हेत्वन्तरमिति। "द्रव्येषु ज्ञानं व्याख्यातम्" (वै.सू. 8.1) इति सूत्रेण द्रव्य विषयकं ज्ञानं व्याख्यातमित्युक्त्वा "समवायिनः श्वैत्याच्छ्वैत्यबुद्धेः श्वेते बुद्धिस्ते कार्यकारणभूते" (वै.सू. 8.9) इति सूत्रेण गुणज्ञानं व्याख्याति। सूत्रस्यायमर्थः—श्वेतगुणसमवायिनः श्वेतत्वसामान्यात् श्वेतत्व सामान्यज्ञानाच्च श्वेतगुणज्ञानं जायते। अतो विशेषणबुद्धिः कारणं, विशेष्यबुद्धिः कार्यमिति। अनेन सूत्रेण कणादः श्वेतत्व विशिष्ट श्वेत गुणज्ञानं प्रति श्वेतत्व रूप सामान्यज्ञानस्य कारणत्वं वदन् श्वेतत्वसामान्यस्य श्वेतत्व सामान्य सम्बन्धस्य च स्वरूपसत्तया कारणत्वं वदति। अनेन सूत्रेण स्पष्टतया विशिष्टज्ञानात् पूर्वं केवलजातिविषयकं निर्विकल्पकं ज्ञानमस्तीति ज्ञायते। तस्मात् कणादो निर्विकल्पकं सविकल्पकं च ज्ञानमङ्गीकरोतीति प्रतीमः।

प्रशस्तपादोऽपि "द्रव्ये तावत्त्रिविधे महत्यनेकद्रव्यवत्वोद्‌भूत रूपप्रकाशचतुष्टय सन्निकर्षाद् धर्मादिसामग्र्ये च स्वरूपालोचनमात्रम्" (पृष्ठ 184.456) इति ग्रन्थेन केवलस्वरूपविषयकं ग्रहणं निर्विकल्पकमित्युक्त्वा "सामान्यविशेषद्रव्यगुणकर्मविशेषणापेक्षादात्ममनःसन्निकर्षात् प्रत्यक्षमुत्पद्यते 'सद्' 'द्रव्यम्' 'विषाणी' 'शुक्लो' 'गौः' 'गच्छति' इति" (पृष्ठ 184.6-9) इति ग्रन्थेन सविकल्पकं प्रत्यक्षमभिदधाति। भेदवादिनां वैदिकानां मध्ये निर्विकल्पकज्ञानं कणादोपज्ञमित्युक्तिर्नातिशयोक्तितामावहति।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वसुबन्धुदिङ्नागादिमतम्

वसुबन्धु "ततोऽर्थात् जातं विज्ञानं प्रत्यक्षम्" (प्र.स. 15) इति प्रत्यक्षलक्षणं वदति। तद्वाक्यस्यायमर्थः—ततः तन्मात्रात् स्वलक्षणात् अर्थात् अर्थक्रियाकारिणो वस्तुन आलम्बनात् जातं विज्ञानं निर्विकल्पकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् इति। एवं वदन् वसुबन्धुः नाम जाति गुणविशिष्टविषयकं ज्ञानमप्रत्यक्षं मन्यते। दिङ्नागश्च वसुबन्धुशिष्यः प्रमाणसमुच्चये "प्रत्यक्षं कल्पनापोढम् नामजात्याद्यसंयुतम्" (प्र.स. 3) इति प्रत्यक्षप्रमाणस्य लक्षणमुक्त्वा "अथ केयं कल्पना नाम नामजात्यादि योजना", यत्रैषा कल्पना नास्ति तन्निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं प्रमाणम्। अवस्त्वात्मकनामजात्यादि सम्बन्धविषयकं सविकल्पकं ज्ञानं, निर्विकल्पकं प्रत्यक्षमनुजायमानं प्रत्यक्षायमाणमप्रत्यक्षमेव, अत एव न प्रमाणमिति वदति। प्रमाणसमुच्चये उत्तरत्र "स्वसंविन्निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं शुद्धवस्तुजम्" इति वक्ति। 'शुद्धम्' इतिपदस्यासंकीर्णं जात्यादिरहितं स्वलक्षणं वस्तु इत्यर्थः। कणादप्रशस्तपादौ निर्विकल्पकज्ञानमभ्युपगच्छतः। कणादो विशेषणज्ञानमित्येवोल्लिखति। प्रशस्तपादः स्वरूपालोचनमात्रमिति निर्दिशति। दिङ्नाग एवं तज्ज्ञानमिदं प्रथमतया निर्विकल्पकपदेन व्यपदिशति। पश्चात्तनो धर्मकीर्तिरपि 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्' (न्या.बि. 1.4) इति दिङ्नागोक्तमनुवदति। शान्तरक्षितोऽपि तत्त्वसंग्रहे नामजात्यादिकल्पनारहित स्वलक्षणमात्रविषयकं निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं प्रमाणं नामजात्यादि वैशिष्ट्यविषयिणी सविकल्पिका प्रतीतिरप्रमाणमिति—

प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमभिलापिनी।
प्रतीतिः कल्पनाक्लृप्तिहेतुत्वाद्यात्मिका न तु॥ (कारिका 1214) इति कारिकया वदति।

कुमारिलमतम्

दिङ्नागः शुद्धवस्तुजं निर्विकल्पकं प्रत्यक्षमिति वदति। भट्टपादा अपि—

अस्ति ह्यालोचनाज्ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादि विज्ञान सदृशं शुद्धवस्तुजम्॥ (प्रत्यक्ष 112)
निर्विकल्पक बोधेऽपि द्व्यात्मकस्यापि वस्तुनः।
ग्रहणम्, ... ॥ (प्रत्यक्ष 118)

इति श्लोकाभ्यां शुद्धवस्तुजमेव निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं, जातिव्यक्ति द्व्यात्मकमेव शुद्धं वस्तु, न स्वलक्षणमित्युक्त्वा द्व्यात्मकस्य वस्तुनः राहित्यरूपशुद्धत्वं कथमित्याशङ्क्य समादधति—

न विशेषो न सामान्यं तदानीमनुभूयते।
तयोराधारभूता तु व्यक्तिरेवावसीयते॥ (प्रत्यक्ष 113)

इति। श्लोकस्यास्यायमर्थः—विशेषः व्यावृत्तिः खण्डव्यक्तौ मुण्डादिव्यक्तिव्यावृत्तिः तदानीं निर्विकल्पकबोधकाले नानुभूयते। सामान्यं अनुवृत्तिः सर्वव्यक्त्यनुगतत्वं जातौ तदानीं नानुभूयते। तयोः व्यावृत्त्यनुवृत्त्योः आधारभूता व्यक्तिरेव व्यक्त्यात्मकं वस्तु जात्यात्मकं च वस्त्वेव ज्ञायते। संपिण्डिताकारं अविभक्तं बालमूकविज्ञेयादिसदृशं निर्विकल्पके भासते इति यावत्। कुतो जातिरनुवृत्तत्वेनव्यक्तिर्व्यावृत्तत्वेननिर्विकल्पके न भासते इति शङ्कां समादधति—

न त्वसाधारणत्वेन परव्यावृत्त्यकल्पनात्।
विशेषानुगमाक्लृप्तेः सामान्यमिति नापि तत्॥ (प्रत्यक्ष 119)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इति। अस्यायमर्थः—परव्यावृत्त्यकल्पनात् परेषां मुण्डादिव्यक्तीनामनवबोधात् परेभ्यो मुण्डादिभ्यो व्यावृत्तेर्ज्ञातुमशक्यत्वाद्व्यक्तिः असाधारणत्वेन व्यावृत्ताकारत्वेन निर्विकल्पके न भासते। विशेषानुगमाक्लृप्तेः विशेषाणामन्यव्यक्तीनामनवबोधाद्विशेषेषु इतरव्यक्तिषु अनुगमस्य अनुवृत्तत्वस्य अक्लृप्तेः अकल्पनात् जातिः सामान्यमिति सर्वानुगतमिति निर्विकल्पके न भासते—इति। तथा च निर्विकल्पके जातिव्यक्त्युभयात्मकं अनुवृत्तिव्यावृत्त्यात्मना अविभक्तं संपिण्डितं वस्तु भासते। तदनु—

ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया।
बुद्ध्यावसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता॥ (प्रत्यक्ष 120)

इति श्लोकेन व्यक्तौ जात्यादिवैशिष्ट्यावगाहि सविकल्पकं जायते। एतदपि प्रत्यक्षप्रमाणमेव, जात्यादेर्वस्तुभूतत्वादिति वदन्तो भट्टपादाः सविकल्पकं निर्विकल्पकमुभयमप्यङ्गीकुर्वन्ति। किंच निर्विकल्पकाभावे सविकल्पकं ज्ञानमेव नोदेतुमर्हति। यतो निर्विकल्पकज्ञानमेव नामधेयस्मरण-जनकसंस्कारोद्‌बोधकं वक्तव्यम्, तदभावे नामधेय स्मरणाभावात् नामजात्यादियोजनात्मकं सविकल्पकमेव दुर्घटमित्यपि निरूपयन्ति।

प्राचीननैयायिकानां मतम्

जयन्तभट्टः—

नन्वेवं सविकल्पस्य प्रत्यक्षत्वे प्रसाधिते।
नेदानीं संगृहीतं स्यात् प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्॥

× × ×

यत्र शब्दानुवेधेऽपि प्रत्यक्षं ज्ञानमिष्यते।
तत्र तत्स्पर्शशून्यस्य तथात्वे का विचारणा।
निर्विकल्पकवत्तस्मात् प्रत्यक्षं सविकल्पकम्।
समग्रहीच्च तदिदं पदेनानेन सूत्रकृत्॥ (न्या.म. 82.13-20)

इति अव्यपदेश्यपदेन सूत्रकारेण निर्विकल्पकं संगृहीतमिति वदन्नपि अव्यपदेश्यपदात् तल्लाभप्रकारं नालोचत्। जयन्तभट्ट मनु त्रिलोचन गुरवः अव्यपदेश्य पदेन निर्विकल्पक ज्ञानलाभप्रकारं विविच्य वर्णयामासुः। जयन्तभट्टो त्रिलोचन श्रीवाचस्पतिप्रभृतयः संपिण्डितं द्व्यात्मकं वस्तु न निर्विकल्पके विषयः, अपि तु सामान्यं व्यक्तिश्च विशकलिततया एव भासते इति मन्यन्ते।.प्राचीननैयायिकानां मते निर्विकल्पके सम्बन्धो न भासते। श्रीवाचस्पतिमिश्राः स्वगुरुत्रिलोचनोन्नीतपद्धतिमवलम्ब्य सविकल्पकनिर्विकल्पकपरतया न्यायसूत्रस्य विवरणं कुर्वन्ति। तथा हि "इह द्वयी प्रत्यक्षजातिरविकल्पिकासविकल्पिका चेति। तत्रोभय्यपि स्वशब्देनोपात्ता, तत्र विप्रतिपत्तेः। तत्राविकल्पिकायाः पदमव्यपदेश्यमिति, सविकल्पिकायाश्च व्यवसायात्मकमिति। तत्र व्यपदेशो विशेषणमुपलक्षणं वा नामजात्यादि तत्कर्मव्यपदेश्यं विशेष्यमिति यावत्। तद्यथा डित्थोऽयं गौरयं शुक्लोऽयं कमण्डलुमानयं गच्छत्ययमिति सर्वं हि सविकल्पकं विशेषणविशेष्यभावेन वस्तुषु प्रवर्तते। अविद्यमानं व्यपदेश्यं यस्मिंस्तदव्यपदेश्यं जात्यादि स्वरूपावगाहि, न तु जात्यादीनां मिथो विशेषण विशेष्य भावावगाहि इति यावत्" (पृष्ठ 220.7-14) इति।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

किं च अर्थस्य शब्दतादात्म्यनिराकरणं विना नाम रहितं निर्विकल्पकं दुर्वचमिति मन्यमानाः श्रीवाचस्पतिमिश्राः भर्तृहरिमतमपाकुर्वाणा वदन्ति "सामानाधिकरण्येन शब्दात्मकत्वं रूपादीनामभिधीयमानं शब्द ब्रह्मात्मकत्वं वोच्येत, श्रूयमाण गौरित्यादिपद भेदात्मकत्वं वा? न तावदाद्यः कल्पः। न खल्वस्मदादिसमस्त दर्शनपथातिवृत्तेन शब्दब्रह्मणा रूपादीनामस्ति सामानाधिकरण्य प्रतीतिः लौकिकानाम्। श्रूयमाण शब्दसामानाधिकरण्ये न तु तादात्म्यप्रसाधने अनुपयुक्त शब्दसम्बन्धस्य बालमूकादेः रूपादि ज्ञानेषु नास्ति श्रूयमाण शब्दगन्धोऽपि, प्रागेव तु तत्सामानाधिकरण्यम्। न च तेषामपि प्राग्भावाय शब्दभाव नानुगमेन तत्सामानाधिकरण्यमिति सांप्रतम्। न शब्दस्य रूपादिवैशद्येनावैशद्यं सम्भवति। युगपद्वैशद्यावैशद्यरूपविरुद्ध धर्मयोगेन भेदप्रसङ्गात्। वैशद्ये तु व्युत्पन्नवदन्युत्पन्नोऽपि शब्दैः व्यवहरेत्, न तु सम्बन्धग्रहणमपेक्षेत। न च तादात्म्यादन्यद्वाचकत्वं शब्दानां यत्र सम्बन्धग्रहापेक्षा भवेत् ... तस्मादव्युत्पन्नानामस्ति शब्दरहितं रूपादिषु निर्विकल्पकंप्रत्यक्षमिति। न केवलमव्युत्पन्नानाम्, व्युत्पन्नानामप्यस्ति (पृष्ठ 221.24-222.9) ... अपि च श्रूयमाणशब्दात्मत्वे रूपादीनाम्, तेषामपि श्रवणग्राह्यत्वमित्यन्धोऽपि रूपं गृह्णीयात्। अस्ति हि तस्य श्रोत्रं च शब्दज्ञानं च। एवं बधिरोऽपि शब्दं गृह्णीयात्। अस्ति हि तस्य लोचनं च रूप ज्ञानं च" (पृष्ठ 223.16-18) इति॥

उदयनाचार्याप्यमुमेव पन्थानमङ्गीकृत्य सविकल्पकं निर्विकल्पकं च ज्ञानमुपपाद्य निर्विकल्पके जातिभानस्य व्यक्तिभानस्य च सन्निकर्षवत् सम्बन्धभानेऽपि इन्द्रियसंयुक्त विशेषणताख्य सन्निकर्षस्य सत्त्वात् सम्बन्धः कुतो न भासते इत्याशङ्क्य सम्बन्धज्ञानं प्रति सम्बन्धिज्ञानस्यकारणत्वात् निर्विकल्पकज्ञानात्पूर्वं सम्बन्धिभूत जातिव्यक्त्योर्ज्ञानाभावात् सम्बन्धिज्ञानघटित सन्निकर्षरूपसामग्र्यभावात् सम्बन्धो न भासते, सविकल्पकात् पूर्वं विशेषणविशेष्ययोः सम्बन्धिनोर्ज्ञानं निर्विकल्पात्मकं जायते, तस्माद्विशेषणविशेष्ययोः सम्बन्धस्यावगाहि सविकल्पकं ज्ञानमुदेतीति "सहकारिवैकल्यात्तु निर्विकल्पक ज्ञानमतीन्द्रियं सविकल्पकोन्नेयमिति कुसुमाञ्जलौ यद्यपि वदन्ति तथापि निर्विकल्पक सत्त्वे किं प्रमाणमिति विप्रतिपत्तिं प्रदर्श्य न प्रमाणमवतास्यन्ति॥"

शशधरमिश्रः

गङ्गेशोपाध्यायात् सार्धशतवर्षैर्ज्येष्ठः शशधरमिश्रः निर्विकल्पकवादे "ज्ञानत्वं निष्प्रकारकवृत्ति न वा। यद्वा ज्ञानत्वं निष्प्रकारकत्व समानाधिकरणं न वा" (पृष्ठ 45.1-2) इति विप्रतिपत्तिं प्रदर्श्य निर्विकल्पकसद्भावेऽनुमानं प्रमाणमवतारयति। निर्विकल्पकस्यातीन्द्रियत्वात् प्रत्यक्षं प्रमाणं न भवितुमर्हति। व्यवहारोऽपि न प्रमाणं, शब्द प्रयोगात्मक व्यवहारं प्रति सविकल्पक ज्ञानस्यैव कारणत्वात्। "जागराद्य सविकल्पकं जन्यविशेषणज्ञानजन्यं, जन्यविशिष्टज्ञानत्वात्, दण्डी पुरुष इति ज्ञानवत्" (पृष्ठ 45.3-4) इत्यनुमानेन निर्विकल्पकं साधयति। अत्र हेतोः पक्षधर्मताबलाज्जागराद्यज्ञानाव्यवहितपूर्वसमयवर्ति ज्ञानं विशेषणविषयकमप्रकारं सिध्यति। तद्विशेषणज्ञानं यदि सप्रकारकं भवेत् तदेव जागराद्यसविकल्पकं स्यात्, न तु पक्षीकृतं ज्ञानमिति पक्षीकृते ज्ञाने जागराद्यसविकल्पकत्वरूपपक्षतावच्छेक धर्मो विरुध्येत। अनन्तरकालिको गङ्गेशोपाध्यायस्तु दण्डीपुरुष इति दृष्टान्तस्तु साध्यविकलः, दण्डपुरुषयोरुभयोरपि युगपच्चक्षुःसन्निकर्षे सति दण्डरूप विशेषणज्ञानं विनैव एकसमयावच्छेदेन दण्डीति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ज्ञानमुत्पत्तुमर्हति इति मत्वा अनुमिति दृष्टान्ती करोति, यथा पर्वतो वह्निमानित्यनुमितिः पक्षसाध्यवैशिष्ट्यविषयिणी वह्न्यात्मकविशेषणज्ञानरूप साध्यप्रसिद्धिजन्या तथा जागराद्य सविकल्पकमपि जन्यविशेषणज्ञानजन्यमित्यभिप्रेत्य चिन्तामणौ वदति। शशधरः जन्यविशेषण ज्ञानं यदि सप्रकारकं भवेत् तदेवाद्यं सविकल्पकं स्यात्, न तु पक्षीकृतम् इति तत्र पक्षतावच्छेदक धर्मविरोधं वदति। गङ्गेशस्तु विशेषणज्ञानं यदि सविकल्पकं तस्य विशिष्टज्ञानत्वेन विशेषणज्ञानजन्यत्वमावश्यकमिति तस्यापि विशेषणज्ञानस्य विशिष्टज्ञानत्वे तस्यापि विशेषणज्ञान-जन्यत्वमिति अनवस्था प्रसज्यते इत्यभिधाय प्रथमं विशेषणज्ञानं निर्विकल्पकमेवेत्यभिदधाति।

अत्र पूर्वपक्षी शङ्कते—जागराद्यसविकल्पकं सुषुप्तिप्राक्कालीनसविकल्पकेनैव विशेषण-विषयकेण संस्कारद्वारा जायते। व्यवहितस्यापि विशेषणज्ञानस्य संस्कारद्वारा विशिष्टज्ञानजनकत्वं सर्वसम्मतमेव, यथा अनुभवः संस्कारद्वारा स्मरणजनकः इति पूर्वोक्तानुमाने जन्यविशेषणज्ञानसाधके सिद्धेन विशेषणविषयकेण सविकल्पकेन सिद्ध-साधनम्—इति।

सिद्धान्ती समादधाति—पक्षीकृतं ज्ञानं जागराद्योऽनुभव एव, अनुभवस्याव्यवहितपूर्ववति विशेषणज्ञानजन्यत्वनियमात् सुषुप्तिप्राक्कालीनं विशेषणविषयकं सविकल्पकमादाय न सिद्धसाधनम्—इति।

पूर्वपक्षी—यो योऽनुभवः सोऽव्यवहित पूर्ववतिविशेषणज्ञानजन्य इति नियमो नास्ति, अनुभवत्वमस्तु अव्यवहितपूर्ववर्तिज्ञानजन्यत्वं मास्तु इत्यप्रयोजक शङ्कायां तद्बाधकतर्कस्या-भावात्। किं च जागराद्यज्ञानमनुभव एवेत्यत्र प्रमाणं नास्ति, तत् स्मरणमपि भवितुमर्हति। स्मरणं च सुषुप्तिप्राक्कालीनेन व्यवहितेनापि विशेषणज्ञानेन जन्यते इति किमिति निर्विकल्पक-कल्पनम्? इति।

सिद्धान्ती—प्रत्यग्रोत्पन्नं यद्विशेषणं तद्विशिष्ट घटादिविषयकं सविकल्पकं ज्ञानं पक्षीकृत्य निर्विकल्पकज्ञानं साधयामः। प्रत्यग्रोत्पन्नस्य रूपादेः पूर्वानुभवो वक्तुमशक्यः, येन व्यवहितेन रूपविषयकेण विशेषेण ज्ञानेन संस्कार द्वारा सिद्धसाधनमाशङ्क्येत—इति।

पूर्वपक्षी—प्रत्यग्रोत्पन्नं रूपादिकमपि रूपत्वादिना सामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्या पूर्वं ज्ञानमेव। अतः प्रत्यग्रोत्पन्नैतद्रूपविषयकं ज्ञानं सामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्या पूर्वं जातमेव। अतो व्यवहितेन प्रत्यग्रोत्पन्नरूप व्यक्तिविषयकेण सविकल्पकेन विशेषेण ज्ञानेन संस्कार द्वारा सिद्ध साधनं दुर्वारमेव—इति।

सिद्धान्ती—व्यवहारस्तावदयं सकलजनसाधारणो यत् ममास्मिन् विषये सविकल्पकं ज्ञानं न संजातं, किन्तु निर्विकल्पकमेव इति। तथा च व्यवहारानुरोधेनावश्यं निर्विकल्पकं स्वीकर्त्तव्यम्-इति। (गङ्गेशोपाध्यायस्तु 'इदं पूर्वं मया संमुग्धतया ज्ञातम्, अधुना तु सम्यग्जानामि' इत्याकारकोऽनुभवो निर्विकल्पके प्रमाणमिति वदति)

पूर्वपक्षी—'ममास्मिन् विषये निर्विकल्पकं वृत्तम्' इति व्यवहारस्य संमुग्धसविकल्पक-गोचरत्वात् निर्विकल्पकस्यातीन्द्रियत्वाङ्गीकाराच्च भवदुक्तव्यवहारो न निर्विकल्पकसाधकः-इति। (गङ्गेशोऽपि 'पूर्वं वस्तु परिमितविशेषण विशिष्टत्वेन ज्ञातम्, अधुना तु बहु विशेषेण विशिष्टतया जानामि' इत्येव पूर्वोक्तानुभवार्थः। तस्मात् 'पूर्वं मया संमुग्धतया ज्ञातम्' इत्यनुभवेन निष्प्रकारकं ज्ञानं न सिध्यति इति ब्रूते)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सिद्धान्ती—'ज्ञानत्वं निष्प्रकारकत्व समानाधिकरणम् सकलज्ञानवृत्तित्वात्, सत्तावत्' इत्यनुमानेन निर्विकल्पकं ज्ञानं सिध्यति। सत्ता तावत् द्रव्यगुणकर्मवृत्तिः। सत्तायां सकलज्ञान-वृत्तित्वरूपहेतुर्वर्तते, निष्प्रकारकवस्तुवृत्तित्वरूपसाध्यमप्यस्ति। अतः निष्प्रकारकवस्तुवृत्तित्वरूप-साध्यव्याप्यस्य सकलज्ञानवृत्तित्वरूपसाध्यमप्यस्ति। अतः निष्प्रकारकवस्तुवृत्तित्वरूपसाध्य-व्याप्यस्य सकलज्ञानवृत्तित्वरूपहेतोः ज्ञानत्वरूपपक्षे सत्त्वात् निष्प्रकारकं ज्ञानं सिध्यति–इति।

पूर्वपक्षी—पूर्वोक्तहेतोः सोपाधिकत्वात् व्याप्यत्वासिद्धत्वम्। उपाधिश्च ज्ञानातिरिक्त-वृत्तित्वम्। सत्तायां निष्प्रकारकत्व समानाधिकरणत्वरूपसाध्यमस्ति, ज्ञानातिरिक्तवृत्तित्वरूपो-पाधिरप्यस्ति इति साध्यव्यापकः उपाधिः। सकलज्ञानवृत्तित्वरूपहेत्वधिकरणे पक्षे ज्ञानत्वे ज्ञानातिरिक्तवृत्तित्वस्योपाधेरसत्त्वात् उपाधिः साधनाव्यापकः। तस्मात् सोपाधिकत्वात् 'सकलज्ञानवृत्तित्वमस्तु निष्प्रकारकत्वसमानाधिकरणत्वं मास्तु' इति व्यभिचारशङ्कायां तद्वारक तर्क विरहाच्च पूर्वोक्तानुमानं न निर्विकल्पकज्ञानसाधकम्—इति।

सिद्धान्ती—'चक्षुः चाक्षुक सविकल्पकातिरिक्तज्ञानजनकम्, ज्ञानजनकत्वात्, घ्राणवत्' इत्यनुमानेन सविकल्पकात् अतिरिक्तं चाक्षुषं निर्विकल्पकं सिध्यति—इति। (गङ्गेशोऽपि शशधर मिश्रोक्तं इदमनुमानं निर्विकल्पकसाधनाय तत्त्वचिन्तामणावुल्लिखति)

पूर्वपक्षी—पूर्वोक्तानुमानेज्ञानजनकत्व रूपो हेतुः सोपाधिकः। उपाधिश्च अतीन्द्रियते-जोभिन्नत्वम्। घ्राणे चाक्षुष सविकल्पकातिरिक्तज्ञानजनकत्व रूप साध्यमस्ति, घ्राणेन्द्रियस्य पार्थिवत्त्वात् तस्मिन्नतीन्द्रियतेजोभिन्नत्वमुपाधिरस्तीति साध्यव्यापकः उपाधिः। ज्ञानजनकत्वरूप हेत्वधिकरणे चक्षुषि पक्षेऽतीन्द्रियतेजोभिन्नत्वरूपः उपाधिर्नास्ति, चक्षुषेऽतीन्द्रियतेजस्त्वादिति साधनाव्यापकः उपाधिः। हेतोः सोपाधिकत्वात् पूर्वोक्तमनुमानं न निर्विकल्पकं ज्ञानं साधयितुं क्षमम्—इति।

सिद्धांती—जागराद्यसविकल्पकं ज्ञानं स्मरणरूपं वा भवतु अनुभवरूपं वा भवतु। उभयथापि निर्विकल्पकज्ञानं सिध्यत्येव। यदि जागराद्यसविकल्पकं स्मरणरूपं तज्जनकसंस्कारः आवश्यकः। संस्कारश्चोद्बुद्धः सन्नेव स्मरणं जनयति। उद्बोधकं च ज्ञानमेवेति जागराद्य सविकल्पक-स्मरणस्याव्यवहितप्राक्कालिकं निर्विकल्पकं सिद्धम्। यदि जागराद्यसविकल्पकमनुभवस्तदा पूर्वपक्ष्युक्त प्रकारेण सुषुप्तिप्राक्कालीन विशेषण ज्ञानस्य संस्कार द्वारा जनकत्वेऽपि सहकारिभूत संस्कारस्योद्बोधकत्वेन किंचन ज्ञानं वक्तव्यमेव। तथा च लाघवादुद्बोधकं तदेव ज्ञानं विशेषणविषयकत्वेन विशिष्ट ज्ञानजनकमङ्गीक्रियताम्, अलं संस्कार द्वारा व्यवहितज्ञानस्य जनकत्वकल्पनया। किं च विशिष्टविषयकानुभवत्वमव्यवहितपूर्व वृत्ति विशेषणज्ञान-जन्यतानियतमिति व्याप्तिरपि संगृहीता भवति।

किंच प्रत्यग्रोत्पन्नविशेषणविशिष्ट विषयकं सविकल्पकं पक्षीकृत्यं निर्विकल्पकानुमानमपि साधीयः। न च शङ्क्यम् सामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्या रूपादि सविकल्पकेनैन सिद्धसाधनमिति। यदि प्रत्यग्रोत्पन्नरूपस्य रूपत्वेनासामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्या पूर्वमेव सविकल्पकज्ञानं स्यात् तदा तदधीनतया जायमानं ज्ञानं 'रूपवान् घटः' इत्येव स्यात्, न तु 'एतद्रूपवान्' इति। जायते तु प्रत्यग्रोत्पन्नरूपविषयकं 'एतद्रूपवान् घटः' इति। विशेषणज्ञानं येन रूपेण विशेषणं विषयीकरोति तेनैव रूपेण विशिष्टज्ञाने विशेषणं भासत इति नियमः। एतन्नियमानङ्गीकारे प्रमेयत्वेन रूपज्ञानात् 'रूपवान् घट' इति प्रतीतिः प्रसज्येत। तस्मात् प्रत्यग्रोत्पन्न विशेषण विशिष्ट सविकल्पकात् पूर्वं प्रत्यग्रोत्पन्नैतद्रूप विशेषणविषयकं ज्ञानं निर्विकल्पकमेव वक्तव्यम्।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

न च शङ्कनीयम् विशेषणज्ञानं येन रूपेण विशेषणमुल्लिखति तेनैव रूपेण विशिष्टज्ञाने विशेषणस्य भानमिति नियमात् सविकल्पके प्रत्यग्रोत्पन्नं रूपं एतद्रूपत्वेनैव भासते इति कारणीभूत विशेषण ज्ञाने निर्विकल्पकेऽपि एतद्रूपत्वेनैव प्रत्यग्रोत्पन्नरूपस्य भानप्रसङ्ग इति। यदि एतद्रूपविषयक निर्विकल्पकेऽपि एतद्रूपत्ववैशिष्ट्यं भासेत तदातद्विशेषणज्ञानं सविकल्पकमेव भवेदिति निर्विकल्पकज्ञानरूपधर्मिग्राहकेण पूर्वोक्तानुमानरूपप्रमाणेन विरोधः स्यादिति।

शशधरः प्राचीननैयायिकवत् निर्विकल्पके सम्बन्धो न भासते इति मन्यते। चिन्तामणिकारमारभ्य सर्वेऽपि नव्यनैयायिका निर्विकल्पके सम्बन्धभानमुपयन्ति। निर्विकल्पके सम्बन्धोऽपि भासते इति 'अपरे' अध्रौव्ये सिद्धसाधनात्' (न्या. कु. 3.22) इत्यत्रैव भरं कुर्वाणाः समवायादेरपि निर्विकल्पकविषयत्वमाहुः" (पृष्ठ 48.1-2) इति केषांचनमतमुपन्यंस्यति शशधरः। प्राचीनाः समवायाभावयोः सविकल्पकैकवेद्यत्वमङ्गीकुर्वन्ति, यतः अभावः प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणः, सम्बन्धोऽपि सम्बन्धिनिरूपणाधीननिरूपणः। तस्मात् प्रतियोगिविशिष्टतयैवाभावो भासते, सम्बन्धोऽपि सम्बन्धियुक्त एव भासते इति। केचन नैयायिका अभावादेः प्रतियोग्यादि निरूपणाधीन निरूपणत्वनियमस्यानङ्गीकारेण समावायाभावयोरपि निर्विकल्पकज्ञान विषयत्वं प्रौढ्याभ्युपगच्छन्ति। शशधरकाले एव सम्बन्धोऽपि निर्विकल्पके भासते इति पक्षः उपक्रान्तः। नव्यनैयायिकाः-सम्बन्धप्रत्यक्षात्पूर्वं सम्बन्धिप्रत्यक्षं कारणत्वेन नापेक्ष्यते। जातिव्यक्तिसम्बन्धेषु त्रिषु इन्द्रियार्थसंनिकर्षस्याविशिष्टत्वात्, इन्द्रियार्थसंनिकर्षप्रयुक्तं भानं जातिव्यक्तयोरेव, न तु सम्बन्धस्य इत्यत्र नियामकाभावाच्च, सम्बन्धोऽपि निर्विकल्पके भासते, परंतु त्रितयं विशकलिततया भासते इति वदन्ति। निर्विकल्पके सविकल्पके च सम्बन्धभानाङ्गीकारे तयोः को भेद इत्याशङ्क्य परस्पर निरूप्यनिरूपक भावापन्नप्रकारता संसर्गताविशेष्यताख्य विषयतात्रितयशालित्वं सविकल्पकस्य लक्षणम्, पूर्वोक्तविषयतात्रितयशून्यत्वं वा पूर्वोक्त त्रितयान्यतम विषयताशून्यत्वं वा निर्विकल्पकस्य लक्षणम्। न च साकारज्ञानत्वं सविकल्पकत्वं निराकारज्ञानत्वं निर्विकल्पकत्वं इति लक्षणं कुतो नाश्रीयते इति शङ्कनीयम्। बौद्धस्तावत् सर्वं ज्ञानं साकारं मन्यन्ते। पातञ्जलाः सांख्याः अद्वैतवादिनश्च अन्तःकरणपरिणामात्मिकां वृत्तिं विषयाकारेण साकारामाशेरते। नैयायिकास्तु सर्वं ज्ञानं निराकारं ब्रुवते। ज्ञानानां निराकारत्वे घटज्ञानपटज्ञानादीनां कथं वैलक्षण्यं इत्युत्थितामाशङ्कां उदयनाचार्याः कुसुमाञ्जलौ "अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्" (4.4) इति विषयवैलक्षण्येनैव ज्ञानानां वैलक्षण्यम्, न त्वाकारवैलक्षण्येन इति समादधति। घटत्व पटत्व निर्विकल्पकयोरसंसृष्टविभिन्नतत्तद्वस्तुनिष्ठ-विषयतानिरूपकत्वादेव वैलक्षण्यं वक्तव्यम्। न च विषयतानां प्रकारतासंसर्गताविशेष्यतान्यतम-रूपत्वात् निर्विकल्पके विशेष्यतात्वादिना विषयतायाः अभाने विषयतानिरूपकत्वमेव निर्विकल्पकस्य न सिध्येत् इति शङ्कनीयम्। निर्विकल्पके पूर्वोक्तविषयतात्रितयविलक्षणा तुरीयविषयता अङ्गीक्रियते। निर्विकल्पकज्ञाने विशिकलिततया भासमाने सम्बन्धिद्वयेसम्बन्धे च परस्पर निरूप्यनिरूपकभावमनापन्ना तुरीयविषयता भासते इति तादृशविषयतानिरूपकत्वात् निर्विकल्पकस्य ज्ञानत्वमव्याहतम्।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उपनिषद्-दर्शनम्

सिद्धेश्वरप्रसादः

हिन्दी में सारांश

(उपनिषद्-दर्शन, जिसे वेदान्त-दर्शन भी कहा जाता है, की अनेक दृष्टियों से अनेक रूपों में व्याख्या की गई है। आदि शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, माधवाचार्य, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य आदि ने भी इसकी अपनी-अपनी व्याख्याएँ की हैं। उनके बाद स्वामी दयानन्द, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, महायोगी श्रीअरविन्द और महात्मा गाँधी ने उपनिषद्-दर्शन पर अपने अपने ढंग से व्याख्याएं की हैं।

इस निबन्ध में लेखक का दृष्टिकोण उपनिषदों के मूल ग्रन्थों के आधार पर उपनिषद्-दर्शन को प्रस्तुत करना है।

लेखक की पहली मान्यता यह है कि 'ईशावास्योपनिषद्' उपनिषद् दर्शन का मूल है जो वस्तुतः यजुर्वेद का अंतिम अर्थात् 40वां अध्याय है। इस अर्थ में उपनिषद् को वेदान्त कहना उचित प्रतीत होता है।

लेखक की दूसरी मान्यता यह है कि वेद और उपनिषदों को कर्म और ज्ञान की क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में नहीं देखना चाहिए।

लेखक ने यह भी स्पष्ट किया है कि उपनिषद् दर्शन में अध्यात्म और भौतिक विकास की सह-साधना की बात कही गई है। इसके लिए ईशावास्योपनिषद् में विद्या-अविद्या, संभूति और असंभूति जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है। उपनिषद् में 'विद्या'अध्यात्म विद्या है ओर 'अविद्या' भौतिक विद्या। उपनिषद् में 'विज्ञान' शब्द का भी प्रयोग हुआ है, पर आधुनिक भौतिक विज्ञान से भिन्न अर्थ में। उपनिषद् में 'विज्ञान' का अर्थ है अनुभूत ज्ञान।

लेखक ने यह भी स्पष्ट किया है कि उपनिषद् या वेदान्त दर्शन जीवन से पलायन का नहीं बल्कि जीवन को सम्यक् रूप में, अर्थात् पूर्णता में, विकसित करने का दर्शन है।

लेखक ने यह भी स्पष्ट किया है कि उपनिषद्-दर्शन या वेदान्त-दर्शन किसी एक युग, किसी एक समाज के लिए नहीं बल्कि हर परिस्थिति और हर युग के लिए है। वेदान्त या उपनिषद् की यह मान्यता है कि जो सृष्टि का उपादान कारण है वही निमित्त कारण है। आइन्स्टाइन के $E = MC^2$ से यह प्रमाणित होता है कि ऊर्जा और पदार्थ परस्पर परिवर्तनीय हैं। अतः उपनिषद्-दर्शन इस भौतिक विज्ञान के अंतिम सिद्धान्त की दृष्टि से सर्वथा वैज्ञानिक है।)

संहिता, ब्राह्मणम्, आरण्यकम् उपनिषत्—इत्येते चत्वारोऽवयवाः खलु वेदशास्त्रस्य। अस्य रचनाक्रमानुसारत एव इयं धारणा प्रचलति। श्रुतिः, मंत्रः, छन्दस् इत्यादि नामान्तरं यद्यपि विद्यते संहितायास्तथापि सामान्यतः वेद-शब्देनापि अस्याः परिचितिः दृश्यते। वस्तुतः वेदस्य एकत्वं सिद्धं परन्तु जनानां सौविध्यहेतोः ऋग्वेदः, सामवेदः, यजुर्वेदस्तथा अथर्ववेदश्चेति भागचतुष्टयं वेदस्य संसाधितं व्यासमुनिना। वेदस्य कस्य भागस्य विरचनमादौ कृतं कस्य परतः इत्यस्मिन् विषये प्रचुरो विवादोऽस्ति पाश्चात्य पंडितानां मध्ये, तदनुयायिनां भारतीय-पण्डितानां मध्येऽपि।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भारतीय परम्परा एतादृशं विकासक्रमन्तु न स्वीकरोति, अपितु यथा ख्रीष्टधर्मावलम्बिनो बाइबेल-इति ग्रन्थं, इसलामधर्मावलम्बिनः कोराण-इति ग्रन्थं प्रमाणं मन्यन्ते तद्वद् अखिलं वेदमपि अपौरुषेयं प्रमाणं च स्वीकरोति वेदज्ञः।

मूलतः श्रौतरूपेण न तु पाठ्यरूपेण प्रचलनमासीत् वैदिकपरम्परायाः। प्रथमं तावत् लिखितरूपाभावात् वेदमन्त्राणां पाठ्यरूपेण वाचनं नाचलत् श्रवणमाध्यमेन एव गुरुपरम्परया एते कण्ठस्थाः क्रियन्ते स्म। इयं श्रुतिपरम्परा वेदानां कथं विकसिता, सुदीर्घ-कालात् अधुनापि कथमियं संजीविता इति तु पृथक् शोधविषयः। स्वरूपतः अखण्डो वेदस्तु श्रुतिरेव, वेदमन्त्राणां श्रवणं न तु संरचनं कृतं वैदिकऋषिभिः। ('कवयं सत्यश्रुतः' ऋ 5.5.7.8)। मन्त्रगतसत्यस्यापि दर्शनं तैः कृतम्। गुह्यार्थमेतत् अवधाय वैदिका ऋषयो मन्त्रद्रष्टार इत्युच्यन्ते। (ऋषिः मंत्रद्रष्टा—शंकराचार्यः) (अस्मिन् प्रसंगे, निबन्ध लेखकस्य 'द वैदिक् विजन्,' एप्रिल-मई 1994 कल्याण कल्पतरु, गीताप्रेस, गोरखपुर' इति द्रष्टव्यः) वैदिक-ऋषिषु मंत्रदर्शनसामर्थ्यं केन प्रकारेण विकसितमिति विषये श्वेताश्वतरोपनिषदि एवमाम्नातम्—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ाम्।

प्रवचनेनानेन स्पष्टमेतत् यद् ऋषयः ध्यानयोगानुगताः सन्तः स्वगुणनिगूढायाः देवात्मशक्त्याः सम्यक् दर्शनं कृतवन्तः, अतः उपनिषत्-प्रसंगेन संस्मरणीयमेतत् यद् उपनिषद्-दर्शनं ध्यानयोगानुगतमेव। अस्मिन्नर्थे पाश्चात्य-दर्शनं तु न हि दर्शनम् अपितु तर्कशास्त्रं तर्काश्रितचिन्तनमात्रमेव। "नैषा तर्केण मतिरापनेया" (कठ. उप. 1.2.9) इति उपनिषद्-श्रुत्या तर्कस्वरूपमुन्मोचितं यथा दृश्यते तथा च उपनिषद्-प्रतिपादितं दर्शनं तर्केण न लभ्यमित्येतत् तथ्यमपि स्फुटं भवति।

अस्मात् सतर्ककिरणात् परमपि पाश्चात्यपंडितैः तदनुसारिभिः भारतीयैरपि तर्केण दर्शनमित्येतत् लब्धुं प्रयासः कृतः। तर्केणानेन ईदृशी दुरपनेया त्रुटिः संजाता यत् उपनिषदः न केवलं संहितापरिवर्तिन्यः अपितु प्रायः स्वतंत्रा एव अवभासन्ते, परन्तु अभिमतमेतत् सर्वथा तथ्यविरोधि। उपनिषत्-साहित्यस्य उपनिषद्दर्शनस्य च मूलाधाररूपेण संस्थिता ईशावास्योपनिषद् वस्तुतः यजुर्वेदस्यैव अन्तिमाध्यायगता वर्त्तते। अनया दृष्ट्या अस्या उपनिषदः वेदान्तत्त्वं भवतु नाम किन्तु मंत्रभागत्वेन अस्याः वेदेन सह अभिन्नत्वं कथं दृष्टिपथं नागच्छेत्? उपनिषदः संख्या अष्टोत्तरशतमिति स्वीक्रियते चेत् तथापि सर्वासां उपनिषदानां तथा श्रीमद्भगवद्-गीताया अन्यासा च गीतानां व्याख्यानम् ईशोपनिषद् द्वारेणैव सिद्धम्। व्यासदेवेन स्वीये 'ब्रह्मसूत्रे' वेदान्तनामधेयं न किमपि नवीनं दर्शनं संस्थापितं अपितु विविधोपनिषदन्तर्गतानां उक्तीनाम् एकवाक्यतासिद्ध्यर्थं प्रयासः कृतः। इयमेकवाक्यता कस्मिन् आधारे संसिद्धिं लभते? निश्चितमेव उपनिषद्रूपे आधारे।

अतः उपनिषद्-दर्शनस्यार्थः ईशोपनिषद्दर्शनमिति प्रतीयते। यतः यजुर्वेदस्य चत्वारिंशाध्यायस्य पृथक् किमपि शिरोनाम नास्ति तर्हि तस्य प्रथममन्त्रस्य अंशविशेषमवलम्ब्य ईशोपनिषदिति नाम धृतम्। "गर में सागर समाया हुआ है' इतीयं लोकोक्ति अत्र सम्प्रयुज्यते यस्याः भावार्थ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ईदृशः—"अस्यामुपनिषदि कुम्भे इव सागरः समायातः। दर्शनस्य विज्ञानस्य च परिभाषायाम् एतद् वक्तुं शक्यते यदत्रास्यां ईशोपनिषदि पिण्डे ब्रह्माण्डस्य, अणौ विश्वस्यैव दर्शनं संलब्धम्—

"ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥"

इत्ययं मंत्र ईशोपनिषदि आम्नातः। अस्यार्थः—"अस्यां जगत्यां सर्वमेव ईश्वरेण परिव्याप्तम्।" अस्य न केवलं अयमेवाशयः यत् अस्याँ सृष्टौ प्रतिभूते ईश्वरो व्याप्तः, अपितु सः सर्वभूतानां स्वामी, नान्यत् किञ्चिदपि अन्येषाम्। तथापि कथं सृष्टेः नियन्तृरूपेण आत्मप्रदर्शनार्थं मनुष्याणां दम्भः? किमर्थं च विश्वविजेतृरूपेण परिचितिलाभाय तेषां दुर्निवारा लालसा? यावद् आवश्यकं तावद् भोगे मनुष्याणामधिकारः। (भुञ्जीथाः) यदवशिष्यते तस्यास्तु त्यागोऽन्येषां कृते। अपरस्य धनविषये कथं लोभः स्यात्?

एतदेव वेदविहितस्य आध्यात्मिकजीवनस्य प्रकृत-स्वरूपम्। एतद्हि उपनिषत्-दर्शनम्। विस्तरस्तु कर्त्तुं शक्यते अस्य स्वेच्छया। अष्टोत्तरशतसंख्याकासु उपनिषत्सु यत् जीवनदर्शनं प्रोक्तं तस्य व्याख्यानमेवात्र उपलभ्यते अस्याम् ईशोपनिषदि इत्येतत् तथ्यं प्रागेव कथितम् परन्तु यद्यपि एकादशसंख्याकानाम् उपनिषदानां भाष्यविरचनात् शंकराचार्येण अस्या ईशोपनिषद् एव अग्रगण्यत्वं प्रदर्शितं तथाच संहिताभागस्य मूलांशभूतत्वात् एव ईशोपनिषदः स्थानमधिकं सम्प्रतीयते।

गीतायां (4.8) उक्तमस्ति—"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" इति।—अर्थात् अस्मिन् संसारे ज्ञानसदृशः निःसन्देहं नान्यः कश्चिदपि पावको विद्यते। छान्दोग्योपनिषदि एतावत् उक्तमस्ति— शुष्काय काष्ठायापि यदि श्राव्यते एतत् औपनिषद्-रहस्यं तर्हि तस्मिन्नापि अंकुरोद्‌गमः पत्रोद्‌गमश्च सम्भविष्यति। यस्यां पाश्चात्यजगत्याँ अष्टादश-एकोनविंश-शताब्दीतः विंशत-शताब्द्या प्रथमचरणपर्यन्तम् आशायाः यत् आभामण्डितम् औज्ज्वल्यं भासते स्म प्रथम-विश्वयुद्धकारणात् सा एवं पाश्चात्यभूमिः ऊषरक्षेत्रे पर्यवसिता दृश्यते। (द वेस्ट लैंड, टी.एस.एलियट् 922) ततः प्रभृतिः पाश्चात्यजगतः ध्यानं प्राणदायिनीं उपनिषद्-वाणीं प्रति संलग्नं गतम्, उपनिषद्-गतस्य शब्दमात्रस्य विविधार्थबोधः संजातः सन्दर्भानुसारतः प्रस्थानभेदात् श्रोतृभेदाच्च। देवाः, दैत्याः, मानवा इत्येते त्रयोऽपि प्रजापत्युक्तस्य 'द' इत्यस्यार्थं स्व-स्वप्रकृत्यनुसारतः ज्ञातवन्तः, अर्थवैविध्यमपि प्रजापतिना सम्यगनुमोदितम्। ईदृशी खलु अर्थपरम्परा वेदस्य उपनिषदस्य च आधिभौतिक-आधिदैविक-आध्यात्मिक-दृष्ट्या विद्यते। वैदिकशब्दानां निर्वचनगतार्थ बोधस्य अयमेव दृष्टिकोणः।

'वेदत्रयी शब्देन वेदानां त्रिसंख्यात्वं नैव सूच्यते अपितु चतुर्णामपि वेदानां पद्यात्मकं, गद्यात्मकं संगीतात्मकं चेति त्रिविधं स्वरूपं अवबोधितं भवति।

योगसाधनदृष्ट्या 'त्रयी' शब्द एतत् तात्पर्यं यत् इड़ा-पिंगला-सुषुम्नामाध्यमेन सुप्तायाः कुण्डलिनी-शक्तेः जागरणं सहस्रो ब्रह्मरंध्रे एवं तस्याः संस्थापनं इति। त्रयीसाधनस्यैतद् रहस्यं यम-सकाशात् ज्ञातवान् नचिकेता।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उपनिषद्-दर्शनस्य योगो ध्यानानुगतयोगोऽस्ति न हि हठयोगः, नैव च ध्यानानुगतयोग-दृष्टं कर्ममात्रं यत्तु प्रचलितार्थे कर्मकाण्डम् उच्यते। यथार्थतः योगोऽयं नहि कर्मविरोधी, यदभिप्रायेन शंकराचार्येण उपनिषदः, गीतायाः, ब्रह्मसूत्रस्य च भाष्यप्रणयनावसरे कर्मणः प्रवृत्तेश्च विरोधः प्रकटीकृतः। तस्मात् कारणात् "प्रच्छन्नो बौद्धः" इत्यभिधानं तस्मै प्रदत्तमासीत्। एकः प्रवृत्तिरूपो द्वितीयश्च निवृत्तिरूप इति वेदोक्त धर्मस्य स्वरूपद्वयमपि स्वीकृत्य निवृत्तिलक्षणस्वरूपमात्रमेव स्वकीये भाष्ये तेन प्रचोदितम्।

ननु भवतु नाम वेदस्य मन्त्रभागत्वेन वेदान्तस्य च उपनिषद्भागत्वेन सीमितोऽर्थस्तथापि ईशोपनिषदि द्वितीये मन्त्रे यत्तथ्यम् अभ्रान्तरूपेण आम्नातं तस्य विस्मरणं कथं स्यात्! वेद-वचनस्य विधिवाक्यं ये खलु स्वीकुर्वन्ति तेषां कृते स्मरणयोग्यो निम्नोक्त उपनिषद्-मन्त्र—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

यस्याँ वैदिकपरम्परागतायाम् उपासनायाँ 'जीवेम शरदः शतम्' अथवा 'पश्येम शरदः शतम्' इत्यादि मन्त्राः वारंवारं उच्चार्यन्ते तद्-परम्परानुसारतः कर्माणि सम्पाद्य एव शतवर्षस्य जीजीविषा प्रकाशिता। ईशोपनिषदुक्ते पूर्वोक्ते मन्त्रे 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' इत्यनेन कर्मः मनुष्यं न बध्नाति इत्येवं भावः स्पष्टीकृतः। गीतोक्त कर्मयोगस्य एतद्हि प्रेरणाबीजं वर्त्तते यदनुसृत्य वाल्मीकि-रामायणे, व्यासकृते महाभारते, वैदिककालात् आरभ्य अद्यावधि समग्रे भारतीय साहित्ये जीवने च अनुप्रेरणास्रोतस्विनी निरन्तरं प्रवहमाना परिदृश्यते। उपनिषद्दर्शनस्य मूलीभूतेयं धारणा सुप्ता भवतु नाम परन्तु विलुप्तां न गता। गीतायां (4.1-2) अस्याः परम्परायाः कालक्रमेण विनष्टिः पुनरुज्जीवनस्य च संस्मरणं विहितम् (यतः गीता तु मूलतः स्मृतिरेव न तु श्रुतिः) परन्तु 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' इत्यादि-गीतोक्तप्रवचनानुसारतः सतो विनाशो नास्ति इत्येतद् तथ्यं सम्यक् अनुभूयते। तथ्यमेतत् सर्वथा आधुनिकवैज्ञानिकसिद्धान्तानुरूपम् एव अवभासते— यस्य अस्तित्वमस्ति तस्य विनाशो न भवति, यस्य अस्तित्वमेव नास्ति तस्य उत्पत्तिरपि न सम्भवति इति। मूर्त्तस्य अमूर्त्तरूपेण, अमूर्त्तस्य च मूर्त्तरूपेण रूपान्तरमेव सृष्टिकर्म्यम्, वैदिकसिद्धान्तोऽयम् आधुनिकविज्ञानसाधकेन आइनस्टाईन महोदयेन तदीये $E = MC^2$ इति सूत्रेण निर्णीतो दृश्यते। गीतायां सिद्धान्तस्यास्य अन्यत्र पुनर्विवेचनम् ईदृशमुपलभ्यते यद् सद्वस्तु व्यक्तरूपात् प्राक् अव्यक्तमेव आसीत्, तदनन्तरं व्यक्तं, तत्पश्चात् पुनः अव्यक्तं जातम्, मध्यावस्थायामेव केवलं तस्य व्यक्तभावः (गीता, 2-28)।

व्यक्तजीवनमेव उपनिषत्-दृष्ट्या साधनक्षेत्रं वर्त्तते, आत्मदर्शनस्य अवसरोऽपि अनेन प्रदीयते। अतः उपनिषद्-दर्शनं जीवनक्षेत्रात् पलायनपरं दर्शनं इति, तथा च तत्र नैतिकतायाः किंचिदपि स्थानं नास्तीति पाश्चात्य मतं सर्वथा निराधारं प्रतीयते। श्वेताश्वतरोपनिषदन्तर्गतः "शृण्वन्तु विश्वेऽमृतस्य पुत्राः" (2.2.5), इत्ययं मन्त्र ऋग्वेदतः (5.81.1, 10.13.1), यजुर्वेदतश्च (11.4, 5.14) उद्धृतः उद्बोधनं प्रचोदयति। मन्त्रेऽस्मिन् निष्ठायाः आशायाः अदम्यात्मविश्वासस्य या त्रिवेणी प्रवाहिता दृश्यते तत्र तु नैराश्यस्य स्थानमात्रमपि नास्ति, नोपलभ्यते तत्र जीवनात् पलायनपरायाः भावनायाः छायामात्रमपि, भौतिकजीवनोपभोगस्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लालसापि तत्र नानुभूयते। अत्यधिक कामनावशात् पाश्चात्यजीवनं विकारग्रस्तम् अस्ति। तज्जीवनं हिंसाया तथा लोभस्य पर्यायरूपेण पर्यवसितम्।

उपनिषत्-परम्परायां जीवनरहस्यस्य उद्घाटनाय यो जिज्ञासाभाव उपलभ्यते स एव अन्यत्रापि साहित्यादिषु परिस्फुटो दृश्यते। श्वेताश्वतरोपनिषदि ऋग्वेदोक्तस्य (ऋग्.1.164.39) तस्य मन्त्रस्य संस्मरणं कृतं यत्रोच्यते—तस्मिन् परमे व्योम्नि यद् अक्षरतत्त्वं व्याप्तमस्ति तं न जानन्ति ये तेषां कृते ऋचां ज्ञानेन किम्? अपितु येषां तदक्षरज्ञानमस्ति तेषां कृते ऋचां ज्ञानाभावेऽपि न हानिः। गीतायाः (2.45) इति श्लोके तथ्यमेतत् एवम् उपस्थापितं येन प्रतीयते वेदपरम्परा खलु आत्मज्ञानपरम्परायाः विरोधी। परन्तु एतन्न समीचीनम्। शब्दनिहितार्थस्य, अर्थनिहितार्थस्य अत्मबोधस्य च प्राप्तिः तत्परम्परायाः परमपुषार्थसूचिका। आत्मबोधः सन्नेव अस्मिन् लोके सम्प्राप्यते, न अन्यस्मिन् कस्मिंश्चिद् लोके।

आत्मस्वरूपं ब्रह्म समग्रे विश्वे परिव्याप्तम्। तदस्ति पश्चात्, दक्षिणतः, वामतः, नीचैः तथा च उपरि। अतः सम्यगुक्तं मुण्डकोपनिषदि—"ब्रह्म एव इदं विश्वं इदं वरिष्ठम्" (मुण्डक 2.2.11) इति। अतएव 'कामायनी' इति ग्रन्थे जयशंकर प्रसादेन तं ब्रह्मणं 'चैत्यस्य विशालं मंगलात्मकं शरीरम्' इत्युक्तम्। आत्मज्ञान प्रकाशस्य पुरतः सूर्य-चन्द्र-तारकं-विद्युत्-इत्यादीनां प्रकाशो यदि निष्प्रभः प्रतीयते तदा अग्नेः प्रकाशः कथम्। वस्तुतः तस्य भासा एव सर्वमिदं विभाति (मुण्डक 2.2.10)। उपनिषदः ऋषीणां दृष्ट्या अनुभूतिरियं ईदृशी महत्त्वपूर्णा आसीत् यदस्याः आवृत्तिः कठोपनिषदि (2.2.15), श्वेताश्वतरोपनिषदि च (6.14) समुपलभ्यते।

आत्मज्ञानेन किं भवति? भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्व संशयाः, क्षीयन्ते सर्वकर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे। (मुण्डक 2.2.8) आत्मदर्शनात् कर्म क्षीणं भवति—अस्य तात्पर्यम् एवमस्ति—कर्मणि वासनाया अवस्थानं न स्यात्। कर्मणि वासनायाः प्रादुर्भावो परिदृश्यते फलस्य इच्छावशात् निराहरस्य देहनाशे किं नाशो भवति विषयभावस्य? स्पष्टरूपेण एतदर्थे गीतायाम् उक्तं 'न' इति। आत्मसाक्षात्कारेण एव विषयभावस्य समाप्तिः जायते। 'परं दृष्ट्वा निवर्त्तते' इति (2.59) गीतायाः अयं संदेशो मुण्डकोपनिषदः 'तस्मिन् दृष्टे परावरे' इत्युक्तेरेव प्रतिध्वनिः (मुण्डक. 3.2.2.8)।

आत्मतत्त्वस्य साक्षात्कारो न हि सहजसाध्यः। न हि बलहीनेन, न च प्रमादग्रस्तेन, न केवलं तपसा साक्षात्कारोऽयं सम्भवति (मुण्डक 3.2.4)। यस्य अन्तःकरणं शुद्धं जातम्, येन सन्न्यासयोगाभ्यासेन कर्मफलासक्तिः परित्यक्ता, तादृशो वेदान्तविद् वेदान्तविज्ञानस्य सुनिश्चितार्थ जानन् ब्रह्मलोकं सम्प्राप्य परमामृतस्वरूपं प्राप्नोति। (मुण्डक 3.2.6)

परमामृतस्वरूपस्य आत्मतत्त्वस्य प्राप्त्यर्थं कः पन्थः अनुसरणीयः? मुण्डकोपनिषदि (3.1.6) कथितमस्ति यद् सत्यस्य एव विजयो भवति, सत्येनैव नीयते आत्मतत्त्वं प्रति — सत्यमार्गो हि देवमार्गः श्रेष्ठमार्गः। पूर्णकामाः अर्थात् निष्कामाः ऋषयः तं मार्गं प्राप्तवन्तः। इदं तु सत्यस्य परमधाम। ऋतं प्रकृतेः विधि-विधानम् अनृतं तु तद्विधानस्य उल्लंघनम्। ऋतमार्गस्य अवलम्बनार्थं ईदृशी उच्चा निष्ठा वस्तुतः नैतिकताया एव पराकाष्ठा। इयन्तु बहुमतस्य हितेन स्वार्थेन वा तुलयितुं न शक्यते। ऋतमार्गस्य अनुसरणेन यस्य क्षुद्रस्वार्थहानिः न जायते, येन स्वार्थसाधनहेतोः नैतिकतायाः निरन्तरं नवीना परिभाषा परिवर्त्यते स तु औपनिषदिक-नैतिकतायाः

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

परमोज्ज्वलस्वरूपस्य परिग्रहणे सर्वथा असमर्थः प्रतीयते। यतः शुद्धसत्त्वं विना एतत् कर्म न संसाध्यते।

ऋग्वेदे ऋतस्य पक्षान्तराणि परिदृश्यन्ते। 'ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवम्' (ऋ. 5.62.1) अर्थात् ध्रुवं ऋतं इत्यर्थः अक्षरं सत्यम्। 'ऋत' शब्देनात्र सततं परिवर्तित रूपं बोध्यते। सनातनं अक्षरतत्त्वं हि आत्मतत्त्वम्, सततं परिवर्तितरूपं यत्तु अत्र ऋतशब्देनोच्यते तत्तु प्रकृतिरेव। परिवर्त्तनं खलु प्रकृतेः (स्वभावः) बाधयति मानवम्। अतः सत्यधर्मेण सत्यदर्शनाय हिरण्मय-पात्रस्य आवरणोन्मोचनार्थम् ईशोपनिषदः ऋषिणा पूषा देव उपास्यते। यः खलु ऋतस्य पन्थानं सम्यग्रूपेण अनुसरति स एव सत्यं लब्धुं शक्नोति—"ऋतस्य पन्थानमन्वेति साधुः' (ऋ 1.124.3) शक्नोतीति उक्तमस्ति ऋग्वेदीये मन्त्रान्तरे। यद्यथा—"ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः' (ऋ 9.73.6) भारतीय परम्पराया दुष्कृतेन सह ऋतस्य ईदृशो विरोधः प्रकटितो येन गीतायाँ परिलक्षिता अवतारतत्त्वस्य सम्भावना—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे। (4.11)

ऋग्वेदे 'साधु' इति शब्दस्यापि प्रयोगोऽस्ति। अनेन स्पष्टमेतत् प्रतीयते यद् साधु इति दुष्टकृत् इति शब्दद्वयस्य वैदिकपरम्परायां गंभीरः प्रभावो वर्तते येन उपनिषत्माध्यमेन गीता, गीतामाध्यमेन च अखिलं भारतीय जनजीवनं भृशं प्रभावितं सन्दृश्यते। मुण्डकोपनिषदि (3.1.6) सत्येन विजय अनृतेन पराजयः इत्युक्तेरनन्तरम् एतदपि उक्तमस्ति यत् सत्यमार्गों हि देवमार्गः, अयन्तु निश्चितसफलतायाः प्रकृष्टो मार्गः। वाल्मीकि-कृते रामायणे, व्यासकृते महाभारते, अपरेषु च महाकाव्येषु भारतीय जनजीवनस्य या संरचना विहिता तत्र सत्यं ऋतश्च, सुकृतो दुष्कृतश्च तथा संस्थापिता यदवधारणेनैव जीवनस्य विचित्ररूपाणां सम्यक् अभिव्यक्तिः संजाता। रामो धर्मराजश्चेति उभे सुकृतस्य, रावणस्तथा दुर्योधनो दुष्कृतस्य प्रतीकरूपेण अवभासेते। परिणामतः रामसदृशस्य धर्मराजसदृशस्यए सुकृत एव विजयः, रावणसदृशस्य दुर्योधनसदृशस्य च दुष्कृतः पराजयो जायते। भारतीय-साहित्ये जनजीवने च 'सत्यमेव जयते' इति दिव्यसंदेशः, तत्र दुःखान्तस्य नाटकादिकस्य नासीत् प्रचलनम्।

भारतीय-अवतारतत्त्वस्य धारणा ऋतेन सह सम्बन्धिता वर्तते। यस्य धर्मस्य संस्थापनार्थाय अवतारस्य अवतरणं भवति सः कीदृशः? सत्त्वतः स ऋत एव। ऋतस्य पन्था "सत्यं वदन्सत्यकर्मन्' इति ऋग्वेदोक्तः (ऋ 9.113.4) पन्था। दुष्कृतश्च कृते न हि ऋतस्य पन्था। (ऋ 9.73.6) ऋतस्य पन्थानमेव अनुसृत्य मार्गगत विपत्ति दूरीकर्त्तुं शक्यते, तेन सत्यप्राप्तिश्च सम्भवेत् (ऋ 4.3.11) अमृतत्वस्यापि लाभो सम्भवति (ऋ 4.3.12)। ऋतमार्गमतिरिच्य लक्ष्यप्राप्तेः नान्यः पन्था विद्यते।

आत्मा न कस्मिंश्चित् बहिःप्रदेशे नापि लोकान्तरे विराजते—तस्य अनुसन्धानाया बहिर्धावनस्य नास्ति आवश्यकता। आत्मा विद्यते अस्माकं देहाभ्यन्तरे। 'अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रोः (मुंडक 3.1.5) (गीता 18.16) – "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' इत्युक्तिः गीतायां विद्यते। तथापि किमर्थं आत्मज्ञानं कठिनमनुभूयते? 'क्षुरस्य धारा' अर्थात् असिधारायां

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

चलनवत् आत्मतत्त्वोपलब्धिः दुःसाध्या प्रतीयते। अतः दोषे क्षीणे सति आत्मलाभस्य सम्भावना। दोषाः केन क्षीणाः भवन्ति? सदैव प्रयत्नकरणेन हि। यो यत्नशीलः स एव यतिः। ईदृशस्य सततसाधनस्य किं स्वरूपम्? अस्मिन् प्रसंगे मुण्डकोपनिषदि (3.1.5) एवमुक्तम् —

"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्॥"

अस्यार्थः—सत्यम्, तपः, सम्यग्ज्ञानं ब्रह्मचर्यं चेति एतेषां नित्याभ्यसनेन अन्तः शरीरस्थितः सः शुभ्रः ज्योतिर्मय आत्मा उपलभ्यते।

मानवसमाजस्य उद्बोधनार्थं स्वामि विवेकानन्देन प्रायः कठोपनिषदः निम्नोक्तो मंत्रः, उल्लिख्यते—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥ (कठो. 1.3.14)

'उत्तिष्ठन्तु, जाग्रतु, श्रेष्ठपदं लभन्ताम्'—इत्यादि उद्बोधनकारिणी वाणी एव भारतदेशस्य उत्थानाय, जागरणाय श्रेष्ठपदप्राप्तये च अनुप्रेरयति नितराम्। परन्तु स्वराज्यप्राप्तेरनन्तरं प्रमत्ताः वयं विस्मृताः यद् लक्ष्यप्राप्त्यर्थम् अप्रमत्तता एव अनिवार्या। शाश्वत-तन्मयताया एव अनिवार्यत्वम्। एतद्विषये मुण्डक श्रुतिः (2.2.4) "अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्'। अतएव कठोपनिषदि सम्यक् कथितमेतत्—अस्मिन् मार्गे चलनं असिधारोपरि चलनवत् अतीव कठिनम् अनुभयूते इति।

अस्मिन् मार्गे चलनं कठिनं भवतु नाम परन्तु तत्र चलनं सरलं सहजमपि भवतुमर्हति यतः मनोरूपिण्या रज्जोः नियन्त्रणं मनुष्यसाध्यमेव वर्त्तते। अभ्यासबलात् आत्मसंकल्पं दृढ़ं कृत्वा एतत् कर्त्तुं शक्यते। (विशदविवेचनार्थं प्रस्तुतलेखकस्य 'ब्रह्मविज्ञानोपनिषद्' सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी इति द्रष्टव्यः)। श्री अरविन्दः अग्निं भागवत शक्तिस्वरूपमिति मत्वा विश्वे दृष्ट-संकल्पस्य प्रतीकरूपेण विवेचितवान्। (कविक्रतुः) अयं संकल्पः सर्वकार्येषु भ्रांतिरहितः संकल्पः (श्री अरविन्द—वेदरहस्य, उत्तरार्द्ध, पृ. 27) मनुष्याणां संकल्पेन एव तेषां मार्गः प्रशस्तो भवति, अतो गीतायाम् उक्तमस्ति उद्धरेत् आत्मना आत्मानम्' (गीता 6.5) आत्मन उद्धार आत्मना एव कर्तव्य इति अस्यार्थः।

जीवनस्य पूर्णतासम्पादनार्थं उपनिषद्-दर्शनं सम्पूर्णजीवनशास्त्ररूपेण आभाति। अनुभवसम्पन्नैः जनैरेव जीवनकलाविज्ञानं सम्पाद्यते। अतः गुरुसमीपे उपविश्य विद्यालाभ इत्येवंरूप उपनिषदिति शब्दार्थः समीचीनः प्रतीयते, यस्तु परम्परागत शब्दार्थ एव। परन्तु जीवनस्य सम्पूर्णतायाः प्राप्तिसाधकमेतत् उपनिषद्-शास्त्रं मध्यकालिकानाम् आचार्याणां एकदेशदर्शिभाष्यप्रदर्शनात् हेतोः स्वस्य प्रकृतरूपात् सहजरूपाच्च विच्युतिं गतम्। अधुना अस्य उद्बोधनस्य वास्तवरूपं विकीर्णम् अवभासते।

निर्जीवं विज्ञानशास्त्रं जीवनशास्त्रं भवितुं नार्हति। भौतिकजगति एतद् दृश्यते यत् यदि एकसंख्यातः एकं निवार्यते तर्हि शून्यम् अवशिष्यते। पुनः शून्यात् यदि शून्यं निवार्यते तर्हि अपि शून्यमेव अवशिष्यते। एतादृशस्य निर्जीव यान्त्रिक शास्त्रस्य परिवर्त्ते जीवनगतं यत्

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

स्पन्दनम् आधारीकृत्य उपनिषदः ऋषिभिः एवंविधं जीवनदर्शनं प्रदर्शितं यत्र एकतः एकस्य निष्कासनात् परम् एकमेव तिष्ठति। जीवजगतः इयं हि वास्तविकता (विशद विवरणार्थं 'ब्रह्मविज्ञानोपनिषद्' इत्यत्र 'ओ पूर्णमदः पूर्णमिदं' इत्यस्य व्याख्यानं द्रष्टव्यम्)।

जीवनशास्त्रस्य दिङ्निर्देश एवं विहित ईशावास्योपनिषदि-

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥ — 11

विद्या अर्थात् अध्यात्मविद्या (आत्मज्ञानम्), अविद्या इत्यस्यार्थः भौतिकविद्या। एतद् विद्यादयस्य समभावेन अनुशीलनेन भौतिकविद्या-साहाय्येन समसाधनत्वं बोधयति। अविद्याम् अर्थात् भौतिकविद्यामुपेक्ष्य मनुष्यः कथं क्षुधारोगादिमृत्युदूतान् विभिन्नान् पराजितान् कुर्यात्। अन्यत्र सः यदि भौतिकसुखोपभोगे लिप्तः सन् प्रमत्तो भवति तर्हि तस्य अमृतत्त्वलाभः कथं सम्भवेत्? तस्य जीवने वसन्तोत्फुल्लं आनन्दः कथं आगमिष्यति? उपनिषत्-प्रसंगे इयेत्स-कविना भणितं यत् मानवसभ्यतायाँ प्रथमवारतया उपनिषत्सु एव सम्पूर्णमानवसन्तोषस्य अनुसन्धानम् उपलब्धम्। ब्राजीलदेशीयस्य प्रख्यातजीवनशास्त्रिणः मार्ता वन्नूश्चीन्महोदयस्य मतानुसारतः वेदे उपलब्धपर्यावरणसम्बन्धिधारणा आधुनिक विज्ञान-प्रतिपादितात् अर्थात् अपि अधिकं विकसिता परिपूर्णा सन्दृश्यते। (इकोलोजीकल रीडिंग्स इन द वेदाज़, मार्तावन्नूश्ची, डी. के. प्रिंटवर्ल्ड (पी), ए. डी. 1993)

एतादृशं अनुपमं वैदिक-चिन्तनं विद्या-अविद्ययोः समन्वितसाधनया एव सिद्धम्, कस्मिन्नपि एकस्मिन् मूल्ये आरोपिते अपरस्य उपेक्षा न कार्या। सत्यं प्रति अविचल-निष्ठाहेतोः एतत् सम्भवम्। एतदर्थं 'ब्रह्मविज्ञानोपनिषद्' इति ग्रन्थे एवमुक्तमस्ति—

'नास्तिकः सत्यहिंसकः'। अवश्यमेव अधुनापि असतो मा सद्गमय इति संदेशः प्रासंगिको वर्त्तते।*

राज भवन, अगरतल्ला (त्रिपुरा)

---

* इस लेख के भाषा-संशोधन में सहायतार्थ हम श्री विजयपाल शास्त्री, दादू संस्कृत महाविद्यालय के प्रति आभारी हैं। (सं.)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विध्यर्थः धर्माधर्मनिर्णयश्च

डी. प्रह्लादाचारः

(हिन्दी सारांश)

'विधि (प्रेरणा, प्रवर्तना या आदेश) का अर्थ और धर्माधर्म का निर्णय' विषयक इस निबन्ध में विध्यर्थ के शाब्दबोध पर विचार किया गया है। महर्षि जैमिनि के मीमांसा सूत्र 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' के अनुसार वेदविहित प्रयोजनवान् अर्थ या कर्म की धर्मसंज्ञा होती है। अतः वैदिक विधिविषय को ही धर्मलक्षण के रूप में सभी वैदिक दर्शन स्वीकार करते हैं। विधि का अर्थ है प्रवर्तक ज्ञानविषयक धर्म। उस धर्म के स्वरूप में दार्शनिकों का मतभेद दृष्टिगोचर होता है, उसी का विवेचन यह निबन्ध करता है।

नैयायिक कृति के साध्य होने पर बलवान् अनिष्ट के अननुबन्ध के साथ इष्ट साधन को विध्यर्थ मानते हैं। प्राभाकर मत में 'कार्यता ज्ञान ही प्रवर्तक है कृति साध्यता रूपी ज्ञान का' विध्यर्थ माना गया है। मण्डनमिश्र के अनुसार इष्टसाधनता मात्र ही विध्यर्थ है। यही मत वैयाकरण भी स्वीकृत करते हैं तथा द्वैत वेदान्ती (माध्व) भी इसी मत पर श्रद्धा रखते हैं। अतः कृति-साध्यता, बलवान् अनिष्ट का अननुबन्धित्व आदि नैयायिक एवं प्राभाकर मत का स्वीकार करना अनुचित होगा। नैयायिक इस मत के विरुद्ध अपनी युक्तियां देते हैं जिनका निबन्धकार ने अपनी युक्तियों से खण्डन किया है। अन्त में द्वैत वेदान्त के समर्थक श्री व्यासतीर्थ के अनुसार भी 'इष्ट साधनता ही विध्यर्थ है' को प्रमाणित एवं युक्ति- सिद्ध प्रतिपादित किया गया है।

राजेन्द्रप्रसाद शर्मा

'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति धर्मस्वरूपं लक्षयता महर्षिणा जैमिनिना वेदविहितस्य प्रयोजनवदर्थस्य धर्मत्वमभिप्रेतम्। प्रयोजनवदर्थसामान्यस्य धर्मत्वे भोजनादिक्रियाया अपि धर्मत्वापततिरिति वेदविहितत्वरूपं चोदनालक्षणत्वं धर्मशरीरे प्रविष्टम्। 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इत्यादिवेदविहितस्य श्येनादेः धर्मत्ववारणाय अर्थपदं सूत्रेऽस्मन् सार्थकमिति मन्वते शास्त्रविदः।

एवं वैदिकविधिविषयस्य धर्मत्वं यद्यपि सर्ववैदिकदर्शनसम्मतम् अथापि लोकवेदसाधारण्येन लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययरूपस्य विधेरर्थनिरूपणे विवदन्ते दार्शनिकाः। परप्रवर्तनार्थं प्रयुज्यमानानां, विधिप्रत्ययत्वेन व्यवह्रियमाणानामेतेषां प्रत्ययानां विधिरर्थ इत्यत्रास्ति सर्वसम्मतिः। विधिश्च प्रवर्तकज्ञानविषयो धर्मः। स च धर्मः क इत्यत्रैव दार्शनिकानां मतभेदः।

स च धर्मः कृतिसाध्यत्वे सति बलवदनिष्टाननुबन्धित्वसहितेष्टसाधनत्वमिति नैयायिकाः। 'तक्षकचूडामणिमाहर' इति वाक्यात् प्रवृत्तिवारणाय कृतिसाध्यत्वं विध्यर्थकोटाववश्यं निवेश्यम्। कृतिसाध्ये बलवदनिष्टाननुबन्धिनि च प्रवृत्तिपरिहाराय इष्टसाधनत्वं विध्यर्थत्वेन स्वीकर्त्तव्यम्। तात्कालिकेष्टसाधने विषसम्पृक्तमधुभक्षणे, निषिद्धकर्मणि च प्रवृत्त्यप्रसङ्गार्थं बलवदनिष्टाननुबन्धित्वस्य विध्यर्थशरीरे प्रवेश आवश्यक इति तेषामाशयः।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्राभाकरमीमांसकास्तु कार्यताज्ञानमेव प्रवर्तकम्। यतो हि ज्ञानेन कृतौ जननीयायाँ द्वारभूता इच्छा कृतिसाध्यत्वप्रकारिकैव। यथा पाकविषयककृतौ जनयितव्यायाँ 'पाकं कुर्याम्' इत्याकारिका पाकविशेष्यका कृतिसाध्यत्वप्रकारिका इच्छा। न च ज्ञानेन चिकीर्षा, तथा च कृतिः। चिकीर्षा च कृतिविषयिण्येव, न तु कृतिसाध्यत्वप्रकारिकेति वाच्यम्। 'पाकं कुर्याम्' इतीच्छानुभव-विरोधात्। चिकीर्षाय कृतिविषयिण्या भिन्नविषयकत्वेन पाककृतिं प्रत्यकारणत्वाच्च। 'जानाति, इच्छति, करोति' इति ज्ञानेच्छीकृतीनामेकविषयकत्वस्यानुभवाच्च। अतः कृतिसाध्यत्वप्रकारिकाया इच्छायाः स्वसमानप्रकारकज्ञानसाध्यत्वमवश्यं स्वीकरणीयमिति कृतिसाध्यताज्ञानरूपस्य कार्यता-ज्ञानस्य प्रवर्तकत्वं, कार्यत्वमेव विध्यर्थ इति अभिप्रयन्ति।

भाट्टास्तु प्रवर्तकज्ञानविषयः प्रवर्तना। प्रवर्तना च प्रेरणा। सैव विध्यर्थः प्रेरणा च लोके पुरुषनिष्ठा अपौरुषेये वेदे प्रवर्तकस्य पुरुषस्याभावेन वेदात्मकशब्दनिष्ठा। अत एव सा वेदे शाब्दी भावनेति व्यवह्रियत इत्याहुः।

मीमांसकप्रवरः मण्डनमिश्रस्तु इष्टसाधनत्वमात्रं विध्यर्थमाह। वैयाकरणा अपि अमुमेव पक्षं स्वीकुर्वन्ति। द्वैतवेदान्तिनोऽपि मतमेतदाद्रियन्ते। कृत्यसाध्ये प्रवृत्त्यभावस्तु कृत्यसाध्यताज्ञानस्य प्रवृत्तिं प्रति प्रतिबन्धकत्वात् कृतिसाध्यत्वस्य अन्यलभ्यत्वाच्च न विध्यर्थत्वम्। तथैव बलवद-निष्टानुबन्धित्वज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वेनैव निषिद्धकर्माचरणादौ प्रवृत्तिवारणसम्भवे बलवदनिष्टाननु-बन्धित्वस्य विध्यर्थत्वस्वीकारोऽप्यनुचित इत्येतेषामाशयः।

अत्रेदं चिन्तनीयम् - इष्टसाधनतामात्रस्य विध्यर्थत्वपक्षे अग्नीषोमीयहिंसाया श्येनयागस्यापि इष्टसाधनत्वस्य सद्भावात् किं तयोर्वैषम्यम्? किञ्च, 'मा हिंस्यात् सर्व भूतानि' इति निषेधवाक्यस्य अग्नीषोमीयहिंसातिरिक्त हिंसाविषयकत्वमपि न कल्पनीयम्। विषसम्पृक्त-मधुभोजने इष्टसाधनत्वानिष्टसाधनत्वयोरिव अग्नीषोमीयहिंसायामपि निषेधवाक्यबोधितस्यानिष्ट साधनत्वस्य विधिबोधितस्येष्टसाधानत्वस्य च सम्भवात्। अपि च, बलवदनिष्टाननुबन्धित्व-सहितेष्टसाधनत्वस्य विध्यर्थतावादिनैयायिकमते श्येनयागे बलवदनिष्टाननुबन्धित्वस्य बाधात् कथं तत्र विधिप्रवृत्तिः? 'मा हिंस्यात् सर्व भूतानि' इति निषेधस्य श्येनयागोऽपि कथं न विषयः? यदि च श्येनयागातिरिक्तस्यैव 'मा हिंस्यात्' इति निषेधविषयत्वं तर्हि अग्नीषोमी-यश्येनयागयोः किं वैषम्यमित्यादयः प्रश्नाः उद्भवन्ति।

केचन नैयायिका अत्रैवं समादधुः—श्येनयागस्य हिंसारूपत्वे खलु एतेषामाक्षेपाणां प्रसङ्गः। किन्तु तदेव तत्र नास्ति। यतो हिंसा शब्दः न मरणजनकव्यापारसामान्यवाचकः। तथा सति कृषिसमये गवि नष्टे कृषकस्य गोहन्तृत्वप्रसङ्गात्। अपि तु साक्षान्मरणफलको व्यापारः हिंसा। श्येनयागस्य तु तादृशं हिंसात्वं नास्तीति 'मा हिंस्यात्' इति निषेधप्रसक्तिरेव नास्ति। न हि श्येनः खड्गहननमिव साक्षान्मरणं जनयति। किन्तु शत्रुशरीरे स्फोटकज्वरादिद्वारैव। न च तथापि श्येनयागस्य बलवदनिष्टानुबन्धित्वेन कथं 'यजेत' इति विधिविषयत्वमिति वाच्यम्। बलवदनिष्टाजनकत्वविशिष्टस्येष्टसाधनत्वस्यैव विध्यर्थत्वात्। श्येनस्य नरकरूपबलवद-निष्टजनको यः शत्रुवधः तस्य ज्वरादिद्वारा जनकत्वेन साक्षादनिष्टजनकत्वाभावात्। तथा च श्येनस्य साक्षादनिष्टजनकत्वाभावविशिष्टमिष्टसाधनत्वमबाधितमिति विध्यर्थत्वम्। परम्परया नरकरूपानर्थसाधनत्वेन चोदनासूत्रेऽर्थपदव्यावर्त्त्यमनर्थत्वं चास्तीति च काचित् क्षतिः।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अग्नीषोमीयहिंसायास्तु साक्षान्मरणफलकव्यापारत्वेन हिंसात्वम्। अत एव 'मा हिंस्यात्' इति निषेधविषयत्वप्रसक्तिः चास्ति। अतो 'मा हिंस्यात्' इति निषेधस्य तदतिरिक्तविषयकत्वमवश्यं वाच्यम्। तस्याः नरकाद्यनर्थजनकत्वेन धर्मत्वं चास्तीति वैषम्यमिति।

परन्त्वेवं श्येनस्य विधेयतासमर्थनमग्नीषोमीयवैषम्यप्रदर्शनं च साक्षान्मरणफलकव्यापारस्यैव हिंसात्वे युज्यते। तदेव चायुक्तमिवाभाति। तथा सति गळलग्नान्नकबळेन मृतस्यात्महन्तृत्वप्रसङ्गात्। अन्ने विषप्रयोक्तुः, खड्गेन व्रणपरम्परामुत्पाद्य घातुकस्य च अहन्तृत्वं स्यात्। गळेऽन्नप्रक्षेपस्य साक्षान्मरणफलकव्यापारत्वात् विषादिप्रयोगस्य च तदभावात्। अपि च प्रवर्तकज्ञानविषयो विध्यर्थः। किन्तु साक्षादनिष्टाजनकत्वज्ञानं न प्रवर्तकम्। तस्मिन् सत्यपि अनिष्टजनकजनकत्वज्ञाने सत्यप्यप्रवृत्तेः। अपि च प्रवर्तकज्ञानविषयो विध्यर्थः किन्तु साक्षादनिष्टाजनकत्वज्ञानं न प्रवर्तकम्। तस्मिन् सत्यपि अनिष्टजनकजनकत्वज्ञाने सत्यप्यप्रवृत्तेः। अतः कथं साक्षादनिष्टाजनकत्वस्य विध्यर्थत्वम्?

अन्ये तु धातोः फलाव्यवहितव्यापारे शक्तिः। यथा पचिधातोः तण्डुलविक्लेदनरूपे ओदनाख्यफलाव्यवहितव्यापारे। यदि च फलव्यवहितव्यापारोऽपि धात्वर्थः स्यात्तर्हि तण्डुलक्रयणस्यापि पच्यर्थत्वप्रसङ्गः। प्रकृते च, हन्तेः मरणाव्यवहितव्यापार एवार्थो वाच्यः। श्येनञ्चोक्तरीत्या न मरणाव्यवहितव्यापार इति न हिंसेत्याहुः। एतदपि न समीचीनम्। तथा सति विक्लित्त्यव्यवहितक्षण एव पचतीति प्रयोगस्य साधुतापत्तेः। अतः फलजनकव्यापारसामान्यस्यैव हिंसात्वमभ्युपेयम्। तच्च श्येनेऽस्त्येव। न च तण्डुलक्रेतुरपि पाचकत्वापत्तिः। क्रयस्य ओदनजनकत्वाभावात्। प्रकारान्तरेण प्राप्ततण्डुलैरप्योदनसिद्धेः।

अपरे तु, अनभिसंहितनरान्तरव्यापारम् अद्वारीकृत्य मरणसाधनं हिंसा। खड्गेन व्रणपरम्परामापाद्य हन्तुरपि घातुकत्वमिदानीं युज्यते। नरान्तरव्यापारस्य तत्राभावेन तद्व्यापारस्य तादृशमरणसाधनत्वसद्भावात्। अन्ने विषप्रयोक्ता च विषभोजनरूपं नरान्तरव्यापारम् अभिसन्धत्त इति तदीयव्यापारेऽपि निरुक्तं हिंसात्वमस्त्येव। खड्गादिकर्त्ता च न घातुकः। खड्गप्रक्षेपादिनरान्तरव्यापारस्य तेनानभिसन्धानात्। श्येनयागोऽपि हिंसैव। ज्वरादिशत्रुगतव्यापारस्याभिसन्धानसद्भावात्। अथापि इष्टसाधनत्वसद्भावेन तस्य विधेयता। बलवदनिष्टानुबंधित्वेन अनर्थत्वं चेत्याहुः।

एतन्मते तु विशिष्टे शक्तस्य विधिप्रत्ययस्येष्टसाधनत्वरूपे विशेषणे लक्षणा कर्त्तव्या भवतीति दोषः। गळलग्नान्नकबळान्मरणप्रसङ्गे परिवेषयितुः घातुकत्वापत्तिश्च। अनेनेदं भोक्तव्यमित्यभिसन्धानसद्भावात्। भोक्तुरात्महन्तृत्वापत्तिश्च। नरान्तरव्यापारस्यानभिसन्धानात्।

अन्ये केचन श्येनो न हिंसेत्यन्यथा निरूपयन्ति। तन्मते हिंसा नाम अदृष्टाद्वारकः मरणोद्देश्यको व्यापारः। अत एवान्योद्देशेन नाराचे क्षिप्ते, तेन च ब्राह्मणे हते न क्षेप्तुः हननकर्त्तृत्वम्। श्येनश्चादृष्टद्वारा शत्रुवधसाधनमिति न तस्यापि हिंसात्वमिति 'मा हिंस्यात्' इति निषेधविषयो न भवति। यदि चादृष्टद्वारा मरणसाधनस्यापि हिंसात्वं तर्हि सप्तम्यां तैलाभ्यङ्गस्यादृष्टद्वारा भार्याविनाशकत्वात् तत्कर्तुः हिंसकत्वप्रसङ्गः इत्याहुः। परन्तु अदृष्टाद्वारकेति विशेषणस्य श्येनमात्रव्यावर्त्तकस्य वैयर्थ्यमेव।

नव्यनैयायिकास्तु—हिंसा नाम मरणोद्देश्यको मरणफलको व्यापारः। तथा च श्येनोऽपि हिंसैव। यजेत इति विधिप्रत्ययस्तु बलवदनिष्टाननुबंधित्वांशं विहायेष्टसाधनत्वमात्रं श्येने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बोधयतीति नानुपपत्तिरिति ब्रुवन्ति। एतन्मते 'न विधौ परः शब्दार्थः' इति न्यायमुल्लङ्घ्य विधेः लक्षणाकरणमयुक्तम्।

अपरे तु—म्लेच्छशत्रुवधमुद्दिश्य वेदे श्येनविधिः। तस्य च बलवदनिष्टाननुबन्धित्वसहित-मिष्टसाधनत्वमस्तीति विधेयता युक्ता। यदि च स श्येनः धनलोभादिना सज्जनवधमुद्दिश्यानुष्ठी-यते तर्हि प्रायश्चित्तं विधीयत इत्याहुः। एतत्तु न सम्यक्। अन्योद्देशेन विहितस्यान्योद्देशेनानुष्ठान-प्रसक्तेरेवाभावेन प्रायश्चित्तोपदेशस्य वैयर्थ्यापत्तेरिति।

प्राभाकरास्तु श्येनाग्निषोमीययोः वैषम्यमेव प्रतिपादयन्ति—अभिचाररूपं फलमुद्दिश्य विहितः श्येनः तत्फलं प्रति करणम्। करणे च तत्र प्रवृत्तिः फलेच्छया। अग्नीषोमीयं तु न करणम्। स्वर्गरूपफलं प्रति ज्योतिष्टोमस्यैव करणत्वात्। अग्नीषोमीयं तु ज्योतिष्टोमं प्रत्यङ्गम्। तत्र च प्रवृत्ति 'अलभेत' इति विधिप्रयुक्तोति वैषम्यमित्याहुः। किन्त्वैतदपि न स्वरसम्। इतिकर्त्तव्यताविहीनेन करणेन फलसिद्ध्यभावात् फलसिद्ध्यर्थं सेतिकर्त्तव्यताकस्यैव करणस्यापेक्षितत्त्वेन अङ्गेऽपि फलरागादेव प्रवृत्तेरवश्यं स्वीकर्त्तव्यत्वात्।

भाट्टास्तु—श्येनः वधफलकः। वधश्च 'न हिंस्यात्' इति निषिद्धः। अग्नीषोमीयं तु क्रतूपकारफलकम्। तच्च फलं न निषिद्धम्। ततश्च निषिद्धफलकत्वाफलकत्वाभ्या-मेतयोर्वैषम्यमाहुः। तदपि न समञ्जसं भाति। वधरूपफलस्य निषेधः साधनस्य यागस्य निषेधे एव पर्यवस्यतीति वाच्यम्। अन्यथा साधनान्निवृत्तिः न स्यात्। यद्येवमङ्गीक्रियते तर्हि साधनविधेरपि फलपर्यन्तता स्वीकार्येति अग्नीषोमीयहिंसावत्ववधस्यापि विधिसंस्पर्शः स्यात्। तथा च निषेधः अतिरिक्तविषयको वाच्य इति श्येनस्यानर्थत्वं न स्यादिति।

इष्टसाधत्वमात्रं विध्यर्थ इति द्वैतवेदान्तमतं समर्थयमाना श्रीव्यासतीर्थास्तु इत्थं वैषम्यमाहुः—निन्दार्थवादेन प्रायश्चित्तोपदेशादिना वा असहितं विधेयत्वं यत्र तत्रानिष्टासाधनत्व-मिति व्याप्तिरस्ति। अग्नीषोमीयपशुहिंसाविषये तादृशार्थवादो वा प्राश्चित्तोपदेशो वा न श्रूयत इति तस्य विधेयत्वम् अनिष्टासाधनत्वमाक्षिपति। एवमर्थात् सिद्धेन अनिष्टासाधनत्वेन 'मा हिंस्यात्' इति निषेधबोधितस्यानिष्टसाधनत्वस्य अस्ति विरोध इति तत्परिहारार्थं निषेधवाक्यमिदम् अग्नीषोमीयहिंसाव्यतिरिक्त हिंसानिषेधपरं वाच्यम्। 'श्येनेन अभिचरन् यजेत' इति विधिस्तु निन्दार्थवादसहितः। 'विष्ठावार्धुषिकस्यान्नमभिचाररतस्य च' इति स्मरणात्। तथा 'त्रिभिः कृच्छ्रैः व्यपोहति' इति प्राश्चित्तश्रवणाच्च नायं विधिः अनिष्टासाधनत्वमाक्षिपति, प्रत्युत केवलमिष्ट-साधनत्वं बोधयति। इदं चानिष्टसाधनत्वेन 'मा हिंस्यात्' इति निषेधवाक्यबोधितेनाविरुद्धमिति श्येनेऽनिष्टसाधनत्वेष्टसाधनत्वयोः समावेशः। तथा च 'यजेत' इति इष्टसाधनत्वबोधको विधिरपि श्येने मुख्यः। तथापि निषिद्धत्वेनाधर्मत्वं च सिद्ध्यतीति सर्व समञ्जसमिति।

कुलपति, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ,
तिरुपति (आन्ध्रप्रदेश)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला के अन्तर्गत दर्शन प्रतिष्ठान के प्रकाशन

चिद्विमर्श

यशदेव शल्य

विषय-सूची

1. दर्शन का आरंभ-बिन्दु : प्रत्यङ्मुख चैतन्य 2. मनुष्य और जगत् 3. आत्म और अनात्म 4. जगद्वासना 5. जगच्चैतन्य : चैतन्य का जगद्विवर्त 6. कला-सर्जन 7. धर्म-दर्शन 8. मनुष्य, इतिहास और समाज विषयक वैदांतिक अवधारणा 9. तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा।

मूल्य 175.00

मूल्यतत्त्व-मीमांसा

(शंकर-पुरस्कार से सम्मानित)

यशदेव शल्य

विषय-सूची

1. तत्त्वमीमांसा का औचित्य : आत्मतत्त्वान्वेषण 2. सृजन और सत्य : मूल्य की तत्त्वमीमांसा 3. मूल्य की वस्तुतंत्रता 4. धर्म-नीति का तत्त्व 5. धर्म-नीतिगत प्रामाण्य का स्वरूप 6. कला का अन्वेष्य-1 7. कला का अन्वेष्य-2 8. कलान्वेष्य सत्य का स्वरूप 9. ज्ञान और उसका अन्वेष्य 10. आत्मान्वेषण-1 11. आत्मान्वेषण-2 12. स्वातन्त्र्य। परिशिष्ट : लोकसाधन।

मूल्य 200.00

प्रमुख भारतीय और पाश्चात्य दर्शन-धाराएं

यशदेव शल्य - भगवती

विषय-सूची

1. ऐतरेय उपनिषद् : रूपक का दार्शनिक तात्पर्य 2. तैत्तिरीय उपनिषद् की तत्त्व-दृष्टि 3. सांख्य 4. शांकर अद्वैतवाद 5. वसुबन्ध का विज्ञानवाद 6. अपोहवाद 7. जैन अनेकान्तवाद और स्याद्वाद 8. डेकार्ट 9. इम्मेनुएल कांट 10. समकालीन पाश्चात्य अनुभववादी दर्शन : सर्वेक्षण।

मूल्य 250.00

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection